

किया जाय, यह बताया गया। ग्यारहवें अध्यायमें समग्रता बतायी गयी। विश्व-रूप-दर्शनको ही मैं 'समग्रता-योग' कहता हूँ। विश्व-रूप-दर्शन यानी यह अनुभव करना कि मामूली रज-कणमें भी सारा विश्व समाया हुआ है। यही विराट् दर्शन है। छोटे अध्यायसे लेकर ग्यारहवें तक भक्ति-रसकी ऐसी यह भिन्न-भिन्न प्रकारसे छानबीन की गयी है।

६०. सगुण उपासक और निर्गुण उपासक : माँके दो पुत्र

३. अब बारहवें अध्यायमें भक्तितत्त्वकी समाप्ति करनी है। अर्जुनने समाप्ति-संबंधी प्रश्न पूछा। पाँचवें अध्यायमें जीवन-संबंधी पूरे शास्त्रका विचार समाप्त होते समय जैसा प्रश्न अर्जुनने पूछा था, वैसा ही यहाँ भी पूछा है। अर्जुन पूछता है—“भगवन्, कुछ लोग सगुणका भजन करते हैं और कुछ निर्गुणकी उपासना करते हैं। तो अब बताओ कि इन दोनोंमें आपको कौन प्रिय है ?”

४. भगवान् इसका क्या उत्तर दें ? किसी माँके दो बच्चे हों और उससे उनके बारेमें प्रश्न किया जाय, वैसा ही यह है। दोमें एक बच्चा छोटा हो, वह माँको बहुत प्यार करता हो, माँको देखते ही आनंदित होता हो और माँके जरा दूर जाते ही व्याकुल होता हो, वह माँसे दूर जा ही नहीं सकता, उसे छोड़ नहीं सकता, उसका वियोग वह सहन नहीं कर सकता। माँ न हो, तो उसे सारा संसार सूना ! ऐसा यह छोटा है। दूसरा बच्चा बड़ा है। वह भी है तो उसी तरह प्रेमभावसे सराबोर, पर समझदार हो गया है। माँसे दूर रह सकता है। साल-छह मास भी माँके दर्शन न हों, तो भी वह रह सकता है। वह माँकी सेवा करनेवाला है। सारा बोझ अपने सिरपर लेकर काम करता है। काम-काजमें लग जानेसे माँका बिछोह सह सकता है। लोगोंमें उसकी प्रतिष्ठा है और चारों ओर उसका नाम सुनकर माँको बड़ा सुख मिलता है। ऐसा यह दूसरा बेटा है। ऐसे दो बेटोंके बारेमें माँसे कहिये—“माँ ! इन दो बेटोंमेंसे एक ही बेटा आपको दिया जायगा। आप जिसे चाहें पसंद करें !” तो वह क्या उत्तर देगी ? किस बेटेको वह पसंद करेगी ? क्या वह दोनों बेटोंको तराजूमें रखकर तौलने बैठेगी ? माताकी भूमिकापर ध्यान दीजिये। उसका स्वाभाविक

उत्तर क्या होगा ? वह निरुपाय होकर कहेगी—“यदि बिछोह ही होना है, तो बड़े बेटेका वियोग मैं सह लूँगी ।” छोटे बेटेको उसने छातीसे लगाया है । उसे वह अपनेसे दूर नहीं कर सकती । छोटे बेटेके विशेष आकर्षणको देखकर शायद वह ऐसा कोई जवाब दे—“बड़ा बेटा दूर जाय, तो हर्ज नहीं ।” परन्तु उसे अधिक प्रिय कौन है, इस प्रश्नका यह उत्तर नहीं कहा जा सकता । कुछ-न-कुछ उत्तर देना है, इसलिए दो-चार शब्द वह बोल देगी; परन्तु उन शब्दोंको तोड़-मरोड़ करके अर्थ निकालने लगेंगे, तो वह ठीक न होगा ।

५. इस प्रश्नका उत्तर देते हुए जैसे उस माँकी विचित्र दशा होगी, ठीक वैसी ही स्थिति भगवान्‌के मनकी हो गयी है । अर्जुन कहता है—“भगवन्, दो तरहके भक्त आपके हैं । एक आपके प्रति अत्यन्त प्रेम रखता है, आपका सतत स्मरण करता है । उसकी आँखें आपकी प्यासी, कान आपका गान सुननेको उत्सुक, हाथ-पाँव आपकी सेवापूजाके लिए उत्कण्ठित हैं । दूसरा है स्वावलम्बी, इंद्रियोंको सतत वशमें रखनेवाला, सर्वभूत-हितमें रत, रात-दिन समाजकी निष्काम सेवामें ऐसा मग्न कि मानो उसे परमेश्वरका स्मरण ही न होता हो । यह है आपका अद्वैतमय दूसरा भक्त । अब मुझे यह बताइये कि इन दोनोंमें आपका प्रिय भक्त कौन-सा है ?” अर्जुनका भगवान्‌से यह प्रश्न है । अब जिस तरह उस माँने जवाब दिया, ठीक उसी तरह भगवान्‌ने उत्तर दिया है—“वह सगुण भक्त मुझे प्रिय है । वह दूसरा-अद्वैत भक्त भी मेरा ही है ।” इस तरह भगवान्‌ असमंजसमें पड़ गये हैं । कुछ-न-कुछ उत्तर देना था, इसलिए दे डाला ।

६. और सचमुच बात भी ऐसी ही है । अक्षरशः दोनों भक्त एकरूप हैं । दोनोंकी योग्यता एक-सी है । उनकी तुलना करना मर्यादा अतिक्रमण करना है । पाँचवें अध्यायमें कर्मके विषयमें जैसा प्रश्न अर्जुनने पूछा था, वैसा ही यहाँ भक्तिके संबंधमें पूछा है । पाँचवें अध्यायमें कर्म और विकर्मकी सहायतासे मनुष्य अकर्म-दशाको प्राप्त होता है । वह अकर्म-वस्था दो रूपोंमें प्रकट होती है—एक व्यक्ति रात-दिन कर्म करते हुए भी मानो लेशमात्र कर्म नहीं करता, और दूसरा चौबीस घंटोंमें एक भी कर्म

न करते हुए मानो दुनियाभरके व्यवहार करता है । इन दोनों रूपोंमें अकर्म-दशा प्रकट होती है । अब इनकी तुलना कैसे की जाय ? किसी वर्तुलकी एक बाजूसे दूसरी बाजूकी तुलना कीजिये । एक हो वर्तुलकी दो बाजू ! इनकी तुलना करें कैसे ? दोनों बाजू समान योग्यता रखते हैं, एकरूप हैं । अकर्म-भूमिकाका विवेचन करते हुए भगवान् ने एकको 'संन्यास' और दूसरेको 'योग' कहा है । शब्द भले ही दो हों, पर अर्थ एक ही है । संन्यास और योग, दोनोंमें निर्णय अन्तमें सरलता, सुगमता-के आधारपर ही किया गया है ।

७. सगुण-निर्गुणका प्रश्न भी ऐसा ही है । एक सगुण भक्त इन्द्रियोंके द्वारा परमेश्वरकी सेवा करता है । दूसरा निर्गुण भक्त मनसे विश्व-कल्याणकी चिन्ता करता है । पहला बाह्य सेवामें मग्न दिखाई देता है, परन्तु भीतरसे उसका चिन्तन सतत जारी है । दूसरा कुछ भी प्रत्यक्ष सेवा करता हुआ नहीं दिखाई देता, परन्तु भीतरसे उसकी महासेवा चल ही रही है । इस प्रकारके दो भक्तोंमें श्रेष्ठ कौन है ? रात-दिन कर्म करके भी लेशमात्र कर्म न करनेवाला एक भक्त है । तो दूसरा निर्गुण उपासक भीतरसे सबके हितका चिन्तन, सबकी चिन्ता करता है । ये दोनों भक्त भीतरसे एकरूप ही हैं । शायद बाहरसे भिन्न दिखाई देते हों, परन्तु दोनों हैं एक-से ही, दोनों भगवान् के प्यारे हैं । फिर भी इनमें सगुण भक्ति अधिक सुलभ है । इस तरह भगवान् ने जो उत्तर पाँचवें अध्यायमें दिया, वही यहाँ भी दिया है ।

६१. सगुण सुलभ और सुरक्षित

८. सगुण-भक्ति-योगमें प्रत्यक्ष इंद्रियोंसे काम लिया जा सकता है । इंद्रियाँ साधन हैं, विघ्नरूप हैं, या दोनों हैं । वे मारक हैं या तारक—यह देखनेवालेकी दृष्टिपर अवलम्बित है । मान लो कि किसीकी माँ मृत्यु-शय्यापर पड़ी हुई है और वह उससे मिलना चाहता है । दोनोंके बीच पंद्रह मीलका रास्ता है । उसपर मोटर नहीं जा सकती । टूटी-फूटी पग-डंडी है । ऐसे समय यह रास्ता साधन है या विघ्न ? कोई कहेगा—
“कहाँका यह मनहूस रास्ता बीचमें आ गया, नहीं तो मैं कबका माँसे

जाकर मिल लेता !” ऐसे व्यक्तिके लिए वह रास्ता शत्रु है। किसी तरह रास्ता काटते हुए वह जाता है। वह रास्तेको कोस रहा है। परन्तु माँको देखनेके लिए उसे हर हालतमें जल्दी-जल्दी कदम उठाकर जाना जरूरी है। रास्तेको शत्रु समझकर वह वहीं नीचे बैठ जायगा, तो दुश्मन जान पड़नेवाले उस रास्तेकी विजय हो जायगी। वह सरपट चलकर ही उस शत्रुको जीत सकता है। दूसरा व्यक्ति कहेगा—“यह जंगल है, फिर भी इसमेंसे होकर जानेका रास्ता तो बना हुआ है, यही गनीमत है। किसी तरह माँतक जा पहुँचूँगा। यह न होता, तो इस दुर्गम पहाड़परसे कैसे आगे जा पाता ?” यह कहकर वह उस पगडंडीको एक साधन समझता हुआ तेजीसे आगे कदम बढ़ाता जाता है। रास्तेके प्रति उसके मनमें स्नेह-भाव होगा, उसे वह मित्र मानेगा। अब आप उस रास्तेको चाहे मित्र मानिये या शत्रु, अंतर बढ़ानेवाला कहिये या अंतर कम करनेवाला, जल्दी-जल्दी कदम तो आपको उठाना ही होगा। रास्ता विघ्नरूप है या साधनरूप, यह तो मनुष्यके चित्तकी भूमिकापर, उसकी दृष्टिपर अवलंबित है। यही बात इंद्रियोंकी है। वे विघ्नरूप हैं या साधक, यह आपकी अपनी दृष्टिपर निर्भर करता है।

९. सगुण उपासकके लिए इंद्रियाँ साधन हैं। इंद्रियाँ मानो पुष्प हैं; जिन्हें परमात्माको अर्पित करना है। आँखोंसे हरिकारूप देखें, कानोंसे हरि-कथा सुनें, जीभसे हरि-नामका उच्चारण करें, पाँवोंसे तीर्थयात्रा करें और हाथोंसे सेवा-कार्य करें—इस तरह समस्त इंद्रियोंको वह परमेश्वरको अर्पण कर देता है। इंद्रियाँ भोगके लिए नहीं रह जातीं। पुष्प तो भगवान्पर चढ़ानेके लिए होते हैं। फूलोंकी माला स्वयं अपने गलेमें डालनेके लिए नहीं होती। इसी तरह इंद्रियोंका उपयोग ईश्वरकी सेवाके लिए करना है। यह हुई सगुणोपासककी दृष्टि; परन्तु निर्गुणोपासकको इंद्रियाँ विघ्नरूप मालूम होती हैं। वह उन्हें संयममें रखता है, बंद करके रखता है। उनका खाना बंद कर देता है। उनपर पहरा बैठा देता है। सगुणोपासकको यह सब-कुछ नहीं करना पड़ता। वह सब इंद्रियोंको हरि-चरणोंमें चढ़ा देता है। ये दोनों विधियाँ इंद्रिय-निग्रहकी ही हैं—इंद्रिय-

दमनके ही ये दोनों प्रकार हैं। आप किसी भी विधिको लेकर चलिये, परंतु इंद्रियोंको अपने काबूमें रखिये। ध्येय दोनोंका एक ही है—उन्हें विषयोंमें न भटकने देना। एक विधि सुलभ है, दूसरी कठिन है।

१०. निर्गुण उपासक सर्वभूतहित-रत होता है। यह कोई मामूली बात नहीं है। 'सारे विश्वका कल्याण करना'—कहनेमें सरल है; पर करना बहुत कठिन है। जिसे समग्र विश्वके कल्याणकी चिंता है, वह चिंतनके सिवा दूसरा कुछ नहीं कर सकता। इसीलिए निर्गुण-उपासना कठिन है। सगुण-उपासना अपनी-अपनी शक्तिके अनुसार अनेक प्रकारसे की जा सकती है। उस छोट-से देहातकी, जहाँ हमारा जन्म हुआ, सेवा करना अथवा माँ-बापकी सेवा करना सगुण-पूजा है। इसमें केवल इतना ही ध्यान रखना है कि हमारी यह पूजा जगत्के हितकी विरोधी न हो। आपकी सेवा कितनी ही छोटी क्यों न हो, वह यदि दूसरोंके हितमें बाधा न डालती हो, तो अवश्य भक्तिकी श्रेणीमें पहुँच जायगी, नहीं तो वह सेवा आसक्तिका रूप ग्रहण कर लेगी। माँ-बाप हों, मित्र हों, दुःखी बंधु-बांधव हों, साधु-संत हों, इन्हें परमेश्वर समझकर इनकी सेवा करनी चाहिए। इन सबमें परमेश्वरकी मूर्तिकी कल्पना करके संतोष मानो। यह सगुण-पूजा सुलभ है; परंतु निर्गुण-पूजा कठिन है। यों दोनोंका अर्थ एक ही है। सुलभताकी दृष्टिसे सगुण श्रेयस्कर है, वस !

११. सुलभताके अलावा एक और भी मुद्दा है। निर्गुण-उपासनामें भय है। निर्गुण ज्ञानमय है। सगुण प्रेममय, भावनामय है। सगुणमें आर्द्रता है। उसमें भक्त अधिक सुरक्षित है। निर्गुणमें कुछ खतरा है। एक समय ऐसा था, जब ज्ञानपर मैं अधिक निर्भर था; परन्तु अब मुझे ऐसा अनुभव हो गया है कि केवल ज्ञानसे मेरा काम नहीं चल सकता। ज्ञानसे मनका स्थूल मैल जलकर भस्म हो जाता है; परंतु सूक्ष्म मैलको मिटानेकी सामर्थ्य उसमें नहीं है। स्वावलम्बन, विचार, विवेक, अभ्यास, वैराग्य—इन सभी साधनोंको ले लीजिये, फिर भी इनके द्वारा मनके सूक्ष्म मैल नहीं मिट सकते। भक्तिरूपी पानीकी सहायताके बिना ये मैल नहीं धुल सकते। भक्तिरूपी पानीमें ही यह शक्ति है। इसे आप चाहें तो

परावलम्बन कह दीजिये। परंतु 'पर' का अर्थ 'दूसरा' न करके 'वह श्रेष्ठ परमात्मा' कीजिये और उसका अवलम्बन-ऐसा अर्थ ग्रहण कीजिये। परमात्माका आधार लिये बिना चित्तके मैल नष्ट नहीं होते।

१२. कोई यह कहेंगे कि "यहाँ 'ज्ञान' शब्दका अर्थ संकुचित कर दिया है। यदि 'ज्ञान' से चित्तके मैल नहीं धुल सकते, तो ज्ञानका दर्जा हलका हो जाता है।" मैं इस आक्षेपको स्वीकार करता हूँ, परन्तु मेरा कहना यह है कि शुद्ध ज्ञान इस मिट्टीके पुतलेमें रहते हुए होना कठिन है। इसमें रहते हुए जो ज्ञान होगा, वह कितना ही शुद्ध क्यों न हो, उसमें कुछ कमी रह ही जायगी। इस देहमें जो ज्ञान उत्पन्न होगा, उसकी शक्ति मर्यादित ही रहेगी। यदि शुद्ध ज्ञानका उदय हो जाय, तो उससे सारे मैल भस्म हो जायँगे, इसमें मुझे तिलमात्र शंका नहीं है। चित्तसहित सारे मैलोंको भस्म कर डालनेकी सामर्थ्य ज्ञानमें है; परन्तु इस विकारवाद् देहमें ज्ञानका बल कम पड़ता है, इससे उसके द्वारा सूक्ष्म मैलोंका मिटना सम्भव नहीं है। अतः भक्तिका आश्रय लिये बिना सूक्ष्म मैल मिटते नहीं। इसीलिए भक्तिमें मनुष्य अधिक सुरक्षित है। यह 'अधिक' शब्द मेरी ओरसे समझिये। सगुण भक्ति सुलभ है। इसमें परमेस्वरवलम्बन है, निर्गुणमें स्वावलम्बन। इसमें 'स्व' का भी क्या अर्थ है? "अपने अंतःस्थ परमात्माका आधार"—यही उस स्वावलम्बनका अर्थ है। ऐसा कोई व्यक्ति नहीं मिल सकता, जो केवल बुद्धिके सहारे शुद्ध हो गया हो। स्वावलम्बनसे अर्थात् आंतरिक आत्म-ज्ञानसे शुद्ध ज्ञान प्राप्त होगा। सारांश, निर्गुण भक्तिके स्वावलम्बनमें भी आत्माका ही आधार है।

६२. निर्गुणके अभावमें सगुण भी सदोष

१३. जैसे सगुण-उपासनाके पक्षमें मैंने सुलभता और सुरक्षितत्वरूपी वजन डाल दिया, वैसे ही निर्गुणके पक्षमें भी मैं डाल सकता हूँ। निर्गुणमें एक मर्यादा रहती है। उदाहरणार्थ, हम भिन्न-भिन्न कामोंके लिए सेवाके लिए संस्था स्थापित करते हैं। संस्थाएँ शुरूमें व्यक्तिको लेकर बनती हैं। वह व्यक्ति मुख्य आधार रहता है। संस्था पहले व्यक्तिनिष्ठ रहती है।

परन्तु जैसे-जैसे उसका विकास होता जाय, वैसे-वैसे वह व्यक्तिनिष्ठ न रहकर तत्त्वनिष्ठ होती जानी चाहिए। यदि उसमें ऐसी तत्त्वनिष्ठा उत्पन्न न हुई, तो स्फूर्तिदाताका लोप होते ही संस्थामें अँधेरा छा जाता है। मैं अपना प्रिय उदाहरण दूँ। चरखेकी माल दूटते ही सूतका कातना तो दूर, कता हुआ सूत लपेटना भी संभव नहीं होता। व्यक्तिका आधार दूटते ही वैसी ही दशा उस संस्थाकी हो जाती है। फिर वह अनाथ हो जाती है। पर यदि व्यक्ति-निष्ठासे तत्त्व-निष्ठा पैदा हो जाय, तो फिर ऐसा नहीं होगा।

१४. सगुणको निर्गुणकी सहायता चाहिए। कभी तो व्यक्तिसे-आकार-से-निकलकर बाहर जानेका अभ्यास करना चाहिए। गंगा हिमालयसे, शंकरके जटाजूटसे निकली, परन्तु वहीं थम नहीं गयी। जटाजूट छोड़कर वह हिमालयकी गिरि-कंदराओं, घाटियों, जंगलोंको पार करती हुई सपाट मैदानमें कल-कल, छल-छल बहती हुई जब आयी, तभी वह विश्वजनोंके काम आ सकी। इसी प्रकार व्यक्तिका आधार दूट जानेपर भी तत्त्वके मजबूत खंभोंपर खड़ी रहनेके लिए संस्थाको तैयार रहना चाहिए। मकानमें जब मेहराब बनाते हैं, तो पहले उसे आधार देते हैं; परन्तु बादमें आधार निकालना होता है। आधारके निकाल डालनेपर जब मेहराब टिकी रहती है, तभी समझा जाता है कि वह आधार सही था। यह तो ठीक है कि पहले स्फूर्तिका प्रवाह सगुणसे चला, परन्तु अंतमें उसकी परिपूर्णता तत्त्वनिष्ठामें, निर्गुणमें होनी चाहिए। भक्तिके उदरसे ज्ञानका जन्म होना चाहिए। भक्तिरूपी लतामें ज्ञानके पुष्प खिलने चाहिए।

१५. बुद्धदेवके ध्यानमें यह बात आ गयी थी। इसीलिए उन्होंने तीन प्रकारकी निष्ठाएँ बतायी हैं। पहले व्यक्ति-निष्ठा हो। उसमेंसे तत्त्व-निष्ठा, और यदि एकाएक तत्त्व-निष्ठा न हो, तो कम-से कम संघ-निष्ठा उत्पन्न होनी चाहिए। एक व्यक्तिके प्रति जो आदर था, वह दस-पन्द्रहके लिए होना चाहिए। संघके प्रति यदि सामुदायिक प्रेम न होगा तो आपसमें अनबन होगी, झगड़े होंगे। व्यक्ति-शरणता मिटकर संघ-शरणता उत्पन्न होनी चाहिए और फिर सिद्धांत-शरणता आनी चाहिए। इसीलिए बौद्ध-धर्ममें तीन प्रकारकी शरणागति बतायी गयी है—

बुद्धं शरणं गच्छामि । संघं शरणं गच्छामि । धम्मं शरणं गच्छामि ।

पहले व्यक्तिके प्रति प्रीति हो, फिर संघके प्रति, परन्तु ये दोनों निष्ठाएँ अस्थिर हैं। अन्तमें सिद्धांत-निष्ठा उत्पन्न होनी चाहिए, तभी संस्था लाभदायी हो सकेगी। स्फूर्तिका स्रोत यद्यपि सगुणसे शुरू हुआ, तो भी वह निर्गुण-सागरमें जाकर मिलना चाहिए। निर्गुणके अभावमें सगुण सशेष हो जाता है। निर्गुणकी मर्यादा सगुणको समतोल रखती है, इसके लिए सगुण निर्गुणका आभारी है।

१६. हिन्दू, ईसाई, इसलाम आदि सभी धर्मोंमें किसी-न-किसी रूपमें मूर्ति-पूजा प्रचलित है। भले ही वह नीचे दर्जेकी मानी गयी हो, पर मान्य जरूर है और महान् है। परन्तु जबतक मूर्ति-पूजा निर्गुणकी सीमामें रहती है, तभीतक वह निर्दोष रहती है। इस मर्यादाके छूटते ही सगुण सशेष हो जाता है। निर्गुणकी मर्यादाके अभावमें सारे धर्मोंके सगुण रूप अवन्तिको प्राप्त हो गये हैं। पहले यज्ञयागमें पशुहत्या होती थी। आज भी शक्ति-देवीको बलि चढ़ाते हैं। यह मूर्ति-पूजाका अत्याचार हो गया। मर्यादाको छोड़कर मूर्ति-पूजा गलत दिशामें चली गयी। यदि निर्गुण-निष्ठाकी मर्यादा रहती, तो फिर यह अंदेशा न रहता।

६३. दोनों परस्पर पूरक : राम-चरित्रके दृष्टान्त

१७. सगुण सुलभ और सुरक्षित है। परन्तु सगुणको निर्गुणकी आवश्यकता है। सगुणके विकासके लिए उसमें निर्गुणरूपी, तत्त्वनिष्ठारूपी और आना चाहिए। निर्गुण-सगुण परस्पर-पूरक हैं, परस्पर-विरुद्ध नहीं। सगुणसे निर्गुणतक मंजिल तय करनी चाहिए और निर्गुणको भी चित्तके सूक्ष्म मेल धोनेके लिए सगुणकी आर्द्रता चाहिए। दोनों एक-दूसरेसे सुशोभित हैं।

१८. यह दोनों प्रकारकी भक्ति रामायणमें बड़े उत्तम ढंगसे दिखायी गयी है। अयोध्याकांडमें भक्तिके दोनों प्रकार आ गये हैं। इन्हीं दो भक्तियोंका विस्तार रामायणमें है। भरतकी भक्ति पहले प्रकारकी है और लक्ष्मणकी दूसरे प्रकारकी। इनके उदाहरणसे निर्गुण-भक्ति और सगुण-भक्तिका स्वरूप समझमें आ जायगा।

१९. राम जब वनवासके लिए निकले, तो वे लक्ष्मणको अपने साथ ले जानेके लिए तैयार नहीं थे। रामको उन्हें साथ ले जानेकी कोई जरूरत नहीं मालूम होती थी। उन्होंने लक्ष्मणसे कहा—“लक्ष्मण, मैं वनमें जा रहा हूँ। मुझे पिताजीकी ऐसी ही आज्ञा है। तुम घरपर रहो। मेरे साथ चलकर दुःखी माता-पिताको और अधिक दुःखी न बनाओ। माता-पिताकी और प्रजाकी सेवा करो। तुम उनके पास रहोगे, तो मैं निश्चिन्त रहूँगा। तुम मेरे प्रतिनिधिके तौरपर रहो। मैं वनमें जा रहा हूँ, इसका अर्थ यह नहीं कि किसी संकटमें पड़ रहा हूँ। बल्कि ऋषियोंके आश्रममें जा रहा हूँ।” इस तरह राम लक्ष्मणको समझा रहे थे; परन्तु लक्ष्मणने रामकी सारी बातें एक ही झपाटेमें उड़ा दीं। एक घाव दो टूक कर डाला। तुलसीदासने इसका बढ़िया चित्र खींचा है। लक्ष्मण कहते हैं—“आपने मुझे उत्कृष्ट निगम-नीति बताया है। वास्तवमें मुझे इसका पालन भी करना चाहिए; परन्तु यह राजनीतिका बोझ मुझसे नहीं उठ सकेगा। आपके प्रतिनिधि होनेकी शक्ति मुझमें नहीं। मैं तो बालक हूँ—

दोन्हि मोहि सिख नीकि गोसांई ।

लागि अगम अपनी कदराई ॥

नरवर धीर धरम-धुर-धारी ।

निगम-नीति कहूँ ते अधिकारी ॥

मैं सिसु प्रभु-सनेह-प्रतिपाला ।

मंदर-मेरु कि लेहि मराला ॥

“हंस क्या मेरु मंदरका भार उठा सकता है? राम भैया, मैं तो आजतक आपके प्रेमसे पला-पुसा हूँ। आप यह राजनीति किसी दूसरेको सिखाइये। मैं तो एक बालक हूँ।” यह कहकर लक्ष्मणने सारी बात खत्म कर दी।

२०. मछली जिस तरह पानीसे जुदा नहीं रह सकती, वही हाल लक्ष्मणका था। रामसे दूर रहनेकी शक्ति उसमें नहीं थी। उसके रोम-रोममें सहानुभूति भरी थी। राम सो जायँ, तब भी स्वयं जागता रहे, उनकी सेवा करे। इसीमें उसे आनन्द मालूम होता था। हमारी आँखपर

कोई कंकड़ मारे, तो जैसे हाथ फौरन् उठकर आँखपर आ जाता है और कंकड़की मार झेल लेता है, उसी तरह लक्ष्मण रामका हाथ बन गया था। रामपर यदि प्रहार हो, तो पहले लक्ष्मण उसे झेलता। तुलसीदासने लक्ष्मणके लिए एक बढ़िया दृष्टान्त दिया है। झंडा ऊँचा लहराता रहता है। मान-वंदना सब झंडेकी ही करते हैं। उसके रंग, आकार आदिके गीत गाये जाते हैं। परन्तु उस सीधे खड़े झंडेको कौन पूछता है? रामके यशकी जो पताका फहर रही है, उसका दंडकी तरह आधार लक्ष्मण ही था। वह सीधा तना खड़ा रहता। झंडेका डंडा कभी झुक नहीं सकता, उसी तरह रामके यशको फहरानेवाला लक्ष्मणरूपी डंडा कभी झुका नहीं। यश किसका? तो रामका! संसारको पताका दीखती है, डंडेकी याद नहीं रहती। मंदिरका कलश दीखता है, नींव नहीं। रामका यश संसारमें फैल रहा है, परन्तु लक्ष्मणका कहीं पता नहीं। चौदह सालतक यह दंड सीधा ही तना रहा, जरा भी नहीं झुका। खुद पीछे रहकर वह रामका यश फहराता रहा। राम बड़े-बड़े दुर्धर काम लक्ष्मणसे करवाते। सीताको वनमें छोड़नेका काम अंतमें लक्ष्मणको ही सौंपा गया। बेचारा लक्ष्मण सीताको पहुँचा आया। लक्ष्मणका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व ही नहीं रह गया था। वह रामकी आँखें, रामके हाथ-पाँव, रामका मन बन गया था। जिस तरह नदी समुद्रमें मिल जाती है, उसी तरह लक्ष्मणकी सेवा राममें मिल गयी थी। वह रामकी छाया बन गया था। लक्ष्मणकी यह भक्ति सगुण थी।

२१. भरत निर्गुण भक्ति करनेवाला था। उसका भी चित्र तुलसीदासने सुन्दर खींचा है। राम वनको गये, तब भरत अयोध्यामें नहीं था। जब भरत आया, तब दशरथ मर चुके थे। गुरु वसिष्ठ उसे समझा रहे थे कि “तुम राज चलाओ।” पर भरतने कहा—“मुझे रामसे भेंट करनी चाहिए।” रामसे मिलनेके लिए वह भीतरसे छटपटा रहा था; परन्तु साथ ही राज्यका प्रबंध भी वह कर रहा था। उसकी भावना यह थी कि यह राज्य रामका है, इसका प्रबन्ध करना—यह रामका ही काम करने जैसा है। सारी सम्पत्ति उस मालिककी है, उसकी व्यवस्था करना उसे

अपना कर्तव्य मालूम होता था। लक्ष्मणकी तरह भरत मुक्त नहीं हो सकता था। यह भरतकी भूमिका है। रामकी भक्तिका अर्थ है, रामका काम करना, नहीं तो वह भक्ति किस कामकी? राज-काजकी सारी व्यवस्था करके भरत रामसे भेंट करने वनमें आया है। “भैया, यह आपका राज्य है। आप.....” इतना ज्योंही वह कहता है, त्योंही राम उससे कहते हैं—“भरत, तुम्हीं राज-काज चलाओ।” भरत संकोचसे खड़ा रहता है। वह कहता है—“आपकी आज्ञा सिर-आँखोंपर।” राम जो कहें, सो मंजूर। उसने अपना सब-कुछ रामपर निछावर कर रखा था।

२२. भरत गया और राज-काज चलाने लगा; परन्तु देखो कैसा अजीब दृश्य है कि अयोध्यासे दो मीलकी दूरीपर वह तपस्या करता रहा। तपस्वी रहकर उसने राज-काज चलाया। अन्तमें राम जब भरतसे मिले, तब यह पहचानना मुश्किल हो गया कि वनमें रहकर तप करनेवाला असली तपस्वी दोनोंमेंसे कौन है? दोनोंके एक-से चेहरे, उभ्रमें थोड़ा-सा फर्क, मुखमुद्रापर वही तपस्याके चिह्न, दोनोंको देखकर पहचाना नहीं जाता कि इनमें राम कौन और भरत कौन है! इस तरहका चित्र यदि कोई चितेरा निकाले, तो वह कितना पावन चित्र होगा! इस तरह भरत यद्यपि शरीरसे रामसे दूर था, तो भी मनसे वह क्षणभरके लिए भी दूर नहीं था। एक ओर वह राजकाज चला रहा था, तो भी मनसे वह रामके पास ही था। निर्गुणमें सगुण भक्ति खचाखच भरी रहती है। अतः वहाँ वियोगकी भाषा मुँहसे निकले ही कैसे? इसलिए भरतको रामका वियोग नहीं लगता था। वह अपने प्रभुका कार्य कर रहा था।

२३. आजकलके युवक कहते हैं—“रामका नाम, रामकी भक्ति, रामकी उपासना—ये सब बातें हमारी समझमें नहीं आतीं। हम तो भगवान्-का काम करेंगे।” भगवान्का काम कैसे करना चाहिए, इसका नमूना भरतने दिखला दिया है। भगवान्का काम करके भरतने वियोगको आत्मसात् किया है। भगवान्का काम करते हुए भगवान्के वियोगका अनुभव करनेके लिए समय न रहना एक बात है और जिसका भगवान्से कुछ देना-लेना नहीं, उसका बोलना दूसरी बात है। भगवान्का कार्य

करते हुए संयमपूर्ण जीवन व्यतीत करना बड़ी दुर्लभ वस्तु है। यद्यपि भरतकी यह वृत्ति निर्गुण रूपसे काम करनेकी थी, तो भी वहाँ सगुणका आधार टूट नहीं गया था। “प्रभो राम, आपकी आज्ञा मुझे शिरोधार्य है। आप जो कहेंगे, उसमें मुझे सन्देह न होगा”—ऐसा कहकर भरत लौटने लगा तो उसने फिर पीछे मुड़कर रामकी ओर देखा और कहा—“भगवन्, मनको समाधान नहीं होता, कुछ-न-कुछ भूला हुआ-सा लगता है।” रामने तुरन्त उसका भाव पहचान लिया और कहा—“ये पादुकाएँ ले जाओ।” अन्तम सगुणके प्रति आदर रहा ही। निर्गुणको सगुणने अन्तमें आर्द्र कर ही दिया। लक्ष्मणको पादुकाएँ लेकर समाधान न हुआ होता। उसकी दृष्टिसे यह दूधकी भूख छाछसे मिटाने जैसा होता। भरतकी भूमिका इससे भिन्न थी। वह बाहरसे दूर रहकर कर्म कर रहा था, परन्तु मनसे राममय था। भरत यद्यपि अपने कर्तव्यका पालन करनेमें ही राम-भक्ति मानता था, तो भी उसे पादुकाओंकी आवश्यकता महसूस हुई। उनके अभावमें वह राजकाजका भार नहीं उठा सकता था। उन पादुकाओंकी आज्ञा शिरोधार्य करके वह अपना कर्तव्य कर रहा था। लक्ष्मण रामका भक्त था, वैसा ही भरत भी था। दोनोंकी भूमिकाएँ बाहरसे भिन्न-भिन्न थीं। भरत यद्यपि कर्तव्यनिष्ठ था, तत्त्वनिष्ठ था, तो भी उसकी तत्त्वनिष्ठाको पादुकाकी आर्द्रताकी जरूरत महसूस हुई।

६४. दोनों परस्पर दूरक : कृष्ण-चरित्रके दृष्टांत

२४. हरिभक्तिरूपी आर्द्रता अवश्य होनी चाहिए। इसलिए भगवान्‌ने अर्जुनसे बार-बार कहा है—मय्यासक्तमनाः पार्थ—“अर्जुन, मुझमें आसक्त रह, मेरे रसका सहारा ले और फिर कर्म करता रह।” जिस भगवद्गीताको ‘आसक्ति’ शब्द न तो सूझता है, न रुचता है, जिसने बार-बार इस बातपर जोर दिया है कि अनासक्त रहकर कर्म करो, राग-द्वेष छोड़कर कर्म करो, निरपेक्ष कर्म करो; ‘अनासक्ति’, ‘निःसंगता’ जिसका ध्रुपद या पालु-पद है, वही कहती है—“अर्जुन, मुझमें आसक्ति रख।” पर यहाँ याद रखना चाहिए कि भगवान्‌में आसक्ति रखना बड़ी

ऊँची बात है। वह किसी पार्थिव वस्तुके प्रति आसक्ति थोड़े ही है ! सगुण और निर्गुण, दोनों एक-दूसरेमें गुँथे हुए हैं। सगुण निर्गुणका आधार सर्वथा तोड़ नहीं सकता और निर्गुणको सगुणके रसकी जरूरत होती है। जो मनुष्य सदैव कर्तव्य-कर्म करता है, वह उस कर्मद्वारा पूजा ही कर रहा है, परन्तु पूजाके साथ रस, आर्द्रता चाहिए। **मामनुस्मर युद्धञ्च च**। मेरा स्मरण रखते हुए कर्म करो। कर्म स्वयं भी एक पूजा ही है, परन्तु अन्तरमें भावना सजीव रहनी चाहिए। केवल फूल चढ़ा देना ही पूजा नहीं है। उसमें भावना आवश्यक है। फूल चढ़ाना पूजाका एक प्रकार है, सत्कर्मोंद्वारा पूजा करना दूसरा प्रकार है, परन्तु दोनोंमें भावना-रूपी आर्द्रता आवश्यक है। फल चढ़ा दिये, पर मनमें भावना नहीं है, तो वे फूल मानो पत्थरपर ही चढ़े। अतः असली वस्तु भावना है। सगुण और निर्गुण, कर्म और प्रीति, ज्ञान और भक्ति—ये सब चीजें एकरूप ही हैं। दोनोंका अंतिम अनुभव एक ही है।

२५. उद्धव और अर्जुनकी मिसाल देखो। रामायणसे मैं एकदम महा-भारतमें आ कूदा। इसका मुझे अधिकार भी है, क्योंकि राम और कृष्ण दोनों एकरूप ही हैं। जैसे भरत और लक्ष्मण, वैसे ही उद्धव और अर्जुन हैं। जहाँ कृष्ण, वहाँ उद्धव होंगे ही। उद्धवको कृष्णका क्षणभरका वियोग सहन नहीं हो सकता। वह सतत कृष्णकी सेवामें निमग्न रहता है। कृष्णके बिना सारा संसार उसे फीका मालूम होता है। अर्जुन भी कृष्णका सखा था, परन्तु वह दूर, दिल्ली रहता था। अर्जुन कृष्णका काम करनेवाला था, परन्तु कृष्ण द्वारकामें, तो अर्जुन हस्तिनापुरमें ! ऐसा दोनोंका सम्बन्ध था।

२६. जब कृष्णको देह छोड़नेकी आवश्यकता प्रतीत हुई, तो उन्होंने उद्धवसे कहा—“ऊधो, अब मैं जा रहा हूँ।” उद्धवने कहा—“मुझे क्या अपने साथ नहीं ले चलेंगे ? चलो, हम दोनों साथ ही चलेंगे।” परन्तु कृष्णने कहा—“यह मुझे पसन्द नहीं। सूर्य अपना तेज अग्निमें रख जाता है, उसी तरह मैं अपनी ज्योति तुझमें छोड़ जाता हूँ।” इस तरह भगवान् ने अन्तकालीन व्यवस्था की और उसे ज्ञान देकर खाना किया।

फिर यात्रामें उद्धवको मैत्रेय ऋषिसे मालूम हुआ कि भगवान् निजधामको चले गये; किन्तु उसके मनपर उसका कुछ भी असर न हुआ, मानो कुछ हुआ ही नहीं।

मरका गुरु, रडका चेला, दोहींचा बोध बायां गेला।

—“मरियल गुरु, रोवना चेला—दोनोंका बोध व्यर्थ गया !” ऐसा हाल उसका नहीं था। उसे लगा, मानो वियोग हुआ ही नहीं। उसने जीवन-भर सगुण-उपासना की थी। वह परमेश्वरके सान्निध्यमें ही रहता था। पर अब उसे निर्गुणमें ही आनन्द आने लगा था। इस तरह उसे निर्गुणकी मंजिल तय करनी पड़ी। सगुण पहले, परन्तु उसके बाद निर्गुणकी सीढ़ी आनी ही चाहिए, नहीं तो परिपूर्णता न होगी।

२७ इससे उलटा हाल हुआ अर्जुनका। श्रीकृष्णने उसे क्या करनेके लिए कहा था? अपने बाद सब स्त्रियोंकी रक्षाका भार अर्जुनपर सौंपा था। अर्जुन दिल्लीसे आया और द्वारकासे श्रीकृष्णके घरकी स्त्रियोंको लेकर चला। रास्तेमें हिसारके पास पंजाबके चोरोोंने उसे लूट लिया। जो अर्जुन उस समय एकमात्र नर, उत्कृष्ट वीरके नामसे प्रसिद्ध था, जो पराजय जानता ही न था और इसलिए ‘जय’ नामसे प्रसिद्ध हो गया था, जिसने प्रत्यक्ष शंकरका सामना किया और उन्हें झुका दिया, वही अजमेरके पास भागते-भागते बचा। कृष्णके चले जानेका उसके मनपर बड़ा असर हुआ। मानो उसका प्राण ही चला गया और केवल निस्त्राण और निष्प्राण शरीर ही बाकी रह गया। सारांश यह कि सतत कर्म करनेवाले, कृष्णसे दूर रहनेवाले निर्गुण उपासक अर्जुनको अन्तमें यह वियोग दुःसह और भारी हो गया। उसके निर्गुणको अन्तमें वियोगकी वाचा फूट निकली। उसका सारा कर्म ही मानो समाप्त हो गया। उसके निर्गुणको आखिर सगुणका अनुभव हुआ। सारांश, सगुणको निर्गुणमें जाना पड़ता है और निर्गुणको सगुणमें आना पड़ता है। इस तरह दोनोंको एक-दूसरेसे परिपूर्णता आती है।

६५. सगुण-निर्गुणको एकरूपताके विषयमें स्वानुभव-कथन

२८. इसलिए जब यह कहनेकी नौबत आती है कि सगुण-उपासक और निर्गुण-उपासकमें क्या भेद है, तो वाणीकी गति कुंठित हो जाती है। सगुण और निर्गुण अंतमें एक हो जाते हैं। भक्तिका स्रोत यद्यपि पहले सगुणसे फूटा हो, तो भी अंतमें वह निर्गुणतक जा पहुँचता है।

पुरानी बात है। मैं वायकोमका सत्याग्रह देखने गया था। मलबारके किनारे शंकराचार्यका जन्मग्राम है, यह बात मुझे याद थी। जहाँ होकर मैं जा रहा था, वहीं कहीं पासमें भगवान् शंकराचार्यका 'कालड़ी' ग्राम होगा, ऐसा मुझे लगा और मैंने साथके मलयाली सज्जनसे पूछा। उसने कहा—“यहाँसे दस-बारह मीलपर ही वह गाँव है। आप जाना चाहते हैं क्या?” मैंने इनकार कर दिया। मैं जा रहा था सत्याग्रह देखनेके लिए, अतः मुझे और कहीं जाना उचित न जान पड़ा और उस समय उस गाँव-को देखनेके लिए नहीं गया। मुझे आज भी ऐसा लगता है कि यह करके मैंने अच्छा ही किया। परन्तु रातको जब मैं सोने लगता, तो वह कालड़ी गाँव, और शंकराचार्यकी वह मूर्ति मेरी आँखोंके सामने बार-बार आ खड़ी होती। मेरी नींद उड़ जाती। वह अनुभव मुझे आज भी ताजा लग रहा है। शंकराचार्यका वह ज्ञान-प्रभाव, उनकी वह दिव्य अद्वैतनिष्ठा, सामने फैले हुए संसारको मिथ्या ठहरानेवाला उनका अलौकिक और ज्वलन्त वैराग्य, उनकी गंभीर भाषा और मुझपर हुए उनके अनंत उपकार इन सबकी रह-रहकर मुझे याद आने लगती। रातको ये सारे भाव जागृत होते। तब मुझे इस बातका अनुभव हुआ कि निर्गुणमें सगुण कैसे भरा हुआ है। प्रत्यक्ष भेंट होनेमें भी उतना प्रेम नहीं होता। निर्गुणमें भी सगुणका परमोत्कर्ष ठसाठस भरा हुआ है।

मैं अकसर किसीकी कुशलपत्र नहीं लिखता। पर किसी मित्रको पत्र न लिखनेपर भी भीतरसे उसका सतत स्मरण होता रहता है। पत्र न लिखते हुए भी मनमें उसकी स्मृति भरी रहती है। निर्गुणमें इस तरह सगुण गुप्त रहता है। सगुण और निर्गुण, दोनों एकरूप ही हैं। प्रत्यक्ष मूर्तिको लेकर पूजा करना, या प्रकट रूपसे सेवा करना और भीतरसे

सतत संसारके कल्याणका चिंतन करते हुए बाहरसे पूजाकी क्रिया दिखाई न देना—इन दोनोंका समान मूल्य और महत्त्व है।

६६. सगुण-निर्गुण केवल दृष्टि-भेद, अतः भक्त-लक्षण प्राप्त करें

२९. अंतमें मुझे यह कहना है कि सगुण क्या और निर्गुण क्या, इसका निश्चय करना भी आसान नहीं है। एक दृष्टिसे जो सगुण है, वह दूसरी दृष्टिसे निर्गुण सिद्ध हो सकता है। सगुणकी सेवा एक पत्थरको लेकर की जाती है। उस पत्थरमें भगवान्की कल्पना कर लेते हैं। हमारी मातामें और सन्तोंमें भी प्रत्यक्ष चैतन्य प्रकट हुआ है। उनमें ज्ञान, प्रेम, हार्दिकता स्पष्ट प्रकट है। पर उनमें परमात्मा मानकर हम पूजा नहीं करते। ये चैतन्यमय लोग प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं। अतः इनकी सेवा करनी चाहिए, इनमें सगुण परमात्माके दर्शन करने चाहिए, परन्तु ऐसा न करके लोग पत्थरमें परमेश्वर देखते हैं। एक तरहसे पत्थरमें परमेश्वरको देखना निर्गुणकी पराकाष्ठा है। संत, माँ-बाप, पड़ोसी—इनमें प्रेम, ज्ञान, उपकार-बुद्धि व्यक्त हुई है। इनमें ईश्वर मानना तो सरल है; परन्तु पत्थरमें ईश्वर मानना कठिन है। उस नर्मदाके कंकड़को हम शंकर मानते हैं। यह क्या निर्गुण-पूजा नहीं है ?

३०. बल्कि इसके विपरीत ऐसा मालूम होता है कि यदि पत्थरमें परमेश्वरकी कल्पना न की जाय, तो फिर कहाँ की जाय ? भगवान्की मूर्ति होनेकी पात्रता तो उस पत्थरमें ही है। वह निर्विकार है, शांत है। अंधकार हो, प्रकाश हो, गर्मी हो, सर्दी हो वह पत्थर जैसाका-तैसा ही रहता है। ऐसा यह निर्विकार पत्थर ही परमेश्वरका प्रतीक होनेके योग्य है। माँ-बाप, जनता, अड़ोसी-पड़ोसी, ये सब विकारसे भरे हैं, अर्थात् इनमें कुछ-न-कुछ विकार मिल ही जाता है। अतएव पत्थरकी पूजा करनेकी अपेक्षा उनकी सेवा करना एक दृष्टिसे कठिन ही है।

३१. सारांश यह कि सगुण-निर्गुण परस्पर पूरक हैं। सगुण सुलभ है, निर्गुण कठिन है, परन्तु दूसरी तरहसे सगुण भी कठिन है और निर्गुण भी सरल है। दोनोंके द्वारा एक ही ध्येयकी प्राप्ति होती है। पाँचवें अध्यायमें जैसा बताया है, चौबीसों घंटे कर्म करके भी लेशमात्र कर्म न

करनेवाला और चौबीसों घंटे कुछ भी कर्म न करके सब कर्म करनेवाला, योगी और संन्यासी, दोनों एकरूप ही हैं, वैसे ही यहाँ भी है। सगुण कर्मदशा और निर्गुण संन्यासयोग, दोनों एकरूप ही हैं। संन्यास श्रेष्ठ है या योग?—इसका उत्तर देनेमें भगवान्‌को जैसी कठिनाई पड़ी, वैसी ही कठिनाई यहाँ भी आ पड़ी। अन्तमें सुलभता-कठिनताके तारतम्यसे उत्तर देना पड़ा है, अन्यथा योग और संन्यास, सगुण और निर्गुण, दोनों एकरूप ही हैं।

३२. अन्तमें भगवान्‌ कहते हैं—“अर्जुन, तुम चाहे सगुण रहो या निर्गुण; पर भक्त जरूर रहो। गोलमटोल पत्थर न रहो।” यह कहकर भगवान्‌ने अन्तमें भक्तके लक्षण बताये हैं। अमृत मधुर होगा, परन्तु उसकी माधुरी चखनेका अवसर हमें नहीं मिला। किन्तु ये लक्षण प्रत्यक्ष मधुर हैं। इसमें कल्पनाकी जरूरत नहीं है। इन लक्षणोंका हम अनुभव करें। बारहवें अध्यायके ये भक्त-लक्षण स्थितप्रज्ञके लक्षणोंकी तरह हमें नित्य सेवन करने चाहिए, मनन करने चाहिए और इन्हें थोड़ा-थोड़ा अपने जीवनमें उतारकर पुष्टि प्राप्त कर लेनी चाहिए। इस तरह हमें अपना जीवन धीरे-धीरे परमेश्वरकी ओर ले जाना चाहिए।

रविवार, ८-५-३२

१३. आत्मानात्म-विवेक

६७. कर्मयोगके लिए उपकारक देहात्म-पृथक्करण

१. व्यासदेवने अपने जीवनका सार भगवद्‌गीतामें उँड़ेल दिया है। उन्होंने विस्तारपूर्वक दूसरा भी बहुत कुछ लिखा है। अकेली महाभारत संहितामें ही लाख-सवा लाख श्लोक हैं। संस्कृतमें ‘व्यास’ शब्दका अर्थ ही मूलतः ‘विस्तार’ है, परन्तु भगवद्‌गीतामें उनका झुकाव विस्तार

करनेकी ओर नहीं है। भूमितिमें जिस प्रकार युक्लिडने सिद्धान्त बता दिये हैं, तत्त्व दिखला दिये हैं, उसी प्रकार व्यासदेवने जीवनके लिए उपयोगी तत्त्व गीतामें लिख दिये हैं। भगवद्गीतामें न तो विशेष चर्चा ही है, न विस्तार ही। इसका मुख्य कारण यह है कि जो बातें गीतामें कही गयी हैं, उन्हें प्रत्येक मनुष्य अपने जीवनमें परख सकता है; बल्कि वे इसलिए कही गयी हैं कि लोग उन्हें परखें। जितनी बातें जीवनके लिए उपयोगी हैं, उतनी ही गीतामें कही गयी हैं। उनके कहनेका उद्देश्य भी इतना ही था, इसीलिए व्यासने थोड़ेमें तत्त्व बताकर सन्तोष मान लिया है। उनकी इस सन्तोष-वृत्तिमें उनका सत्य तथा आत्मानुभव-संबंधी महान् विश्वास हमें दिखाई देता है। जो बात सत्य है, उसके समर्थनके लिए अधिक शक्ति काममें लानेकी जरूरत नहीं रहती।

२. हम जो गीताकी बात कर रहे हैं, उसका मुख्य उद्देश्य यह है कि जीवनमें जब कभी हमें किसी सहायताकी आवश्यकता प्रतीत हो, तब वह गीतासे हमें मिलती रहे; और वह हमें सदैव मिलने जैसी भी है। गीता जीवनोपयोगी शास्त्र है और इसीलिए उसमें स्वधर्मपर इतना जोर दिया गया है। मनुष्यके जीवनकी बड़ी नींव अगर कोई है, तो वह स्वधर्माचरण ही है। उसकी सारी इमारत इस स्वधर्माचरणरूपी पायेपर खड़ी करनी है। यह पाया जितना मजबूत होगा, इमारत उतनी ही ज्यादा टिक सकेगी। इस स्वधर्माचरणरूप कर्मके इर्द-गिर्द गीतामें विविध बातें खड़ी कर दी गयी हैं। उसकी रक्षाके लिए अनेक विकर्म रचे गये हैं। स्वधर्माचरणको सजानेके लिए, उसे सुन्दर बनानेके लिए, और सफल करनेके लिए जिन-जिन आधारोंकी और सहायताकी जरूरत है, वे सब उसे देना जरूरी है। इसलिए अबतक ऐसी बहुतेरी चीजें हमने देखीं। उनमें बहुत-सी भक्तिके रूपमें थीं। आज तेरहवें अध्यायमें जो चीज हमें देखनी है, वह भी स्वधर्माचरणमें बहुत उपयोगी है। इसका संबंध विचार-पक्षसे है।

३. स्वधर्माचरण करनेवालेको फलका त्याग करना चाहिए, यह प्रधान बात गीतामें सर्वत्र कही गयी है। कर्म तो करें, पर उसका फल छोड़ दें।

पेड़को पानी पिलायें, उसकी परवरिश करें; परन्तु उसकी छायाकी, फूल-फलकी अपने लिए अपेक्षा न रखें। यह स्वधर्माचरणरूप कर्मयोग है। कर्मयोगका अर्थ केवल इतना ही नहीं कि कर्म करते रहो। कर्म तो इस सृष्टिमें सर्वत्र हो ही रहा है। उसे बतानेकी जरूरत नहीं है; परन्तु स्वधर्माचरणरूप कर्म—कोरा कर्म नहीं—भलीभाँति करके उसका फल छोड़ देना,—यह बात कहनेमें, समझनेमें बड़ी सरल मालूम होती है, परन्तु आचरणमें कठिन है। किसी कार्यकी प्रेरक शक्ति ही मूलतः फल-वासना मानी गयी है। फल-वासनाको छोड़कर कर्म करना उलटा पंथ है। व्यवहार या संसारकी रीतिके विपरीत यह क्रिया है। जो व्यक्ति बहुत कर्म करता है, उसके जीवनमें गीताका कर्मयोग है, ऐसा हम बहुत बार कहते हैं। बहुत कर्म करनेवालेका जीवन कर्मयोगमय है, ऐसा हम कहते हैं; परन्तु इस प्रयोगमें भाषा-शैथिल्य है। गीताकी व्याख्याके अनुसार वह कर्मयोग नहीं है। लाखों कर्म करनेवालोंमें केवल—कर्म ही नहीं, बल्कि स्वधर्माचरणरूप कर्म करनेवाले लाखों लोगोंमें भी—गीताके कर्मयोगका आचरण करनेवाला विरला ही मिलेगा। कर्मयोगको सूक्ष्म और सच्चे अर्थमें देखा जाय, तो ऐसा सम्पूर्ण कर्मयोगी शायद ही कहीं मिले। कर्म तो करें, परन्तु उसके फलको छोड़ दें, यह बिलकुल असाधारण बात है। अबतक गीतामें यही विश्लेषण, यही पृथक्करण किया गया है।

४. उस विश्लेषण या पृथक्करणके लिए ही उपयोगी एक दूसरा पृथक्करण इस तेरहवें अध्यायमें बताया गया है। 'कर्म करें और उसके फलकी आसक्ति छोड़ दें'—इस पृथक्करणका सहायक महान् पृथक्करण है, 'देह और आत्मा' का। यही तेरहवें अध्यायमें उपस्थित किया गया है। आँखोंसे हम जिस रूपको देखते हैं, उसे हम मूर्ति, आकार, देह कहते हैं। यद्यपि बाह्य मूर्तिका परिचय हमारी आँखोंको हो जाय, तो भी वस्तुके अन्तरंगमें हमें प्रवेश करना पड़ता है। फलका ऊपरी कवच—छिलका—निकालकर उसका भीतरी गूदा चखना पड़ता है। नारियल हो तब भी उसे फोड़कर भीतर क्या है, यह देखना पड़ता है। कटहलपर काँटे लगे रहते हैं, लेकिन भीतर बढ़िया और रसीला गूदा भरा रहता है। हम चाहे

अपनी ओर देखें, चाहे दूसरोंकी ओर, यह भीतर और बाहरका पृथक्करण आवश्यक हो जाता है। तो अब छिलका अलग करनेका अर्थ क्या ? इसका अर्थ यह कि प्रत्येक वस्तुके भीतरी और बाहरी रूपका पृथक्करण किया जाय। बाह्य देह और भीतरी आत्मा, इस तरह प्रत्येक वस्तुका दुहरा रूप है। कर्ममें भी यह बात है। बाहरी फल कर्मका शरीर है और कर्मकी बदौलत जो चित्त-शुद्धि होती है, वह उस कर्मकी आत्मा है। स्वधर्माचरणका बाहरी फलरूप शरीर छोड़कर भीतरी चित्तशुद्धिरूप सारभूत आत्माको हम ग्रहण करें, हृदयमें धारण कर लें। इस प्रकार देखनेकी आदत, देहको हटाकर प्रत्येक वस्तुका सार ग्रहण करनेकी सारग्राही दृष्टि, हमें प्राप्त कर लेनी चाहिए। आँखोंको, मनको, विचारोंको ऐसी शिक्षा, ऐसी आदत, ऐसा अभ्यास करा देना चाहिए। हर बातमें देहको अलग करके आत्माकी पूजा करनी चाहिए। विचारके लिए यह पृथक्करण तेरहवें अध्यायमें दिया गया है।

६६. सुधारका मूलाधार

५. सारग्राही दृष्टि रखनेका विचार बहुत महत्वपूर्ण है। यदि बचपनसे ही हम ऐसी आदत डाल लें; तो कितना अच्छा हो ! यह विषय हजम कर लेने जैसा है। यह दृष्टि स्वीकार करने योग्य है। बहुतोंको ऐसा लगता है कि अध्यात्म-विद्याका जीवनसे कोई संबंध नहीं। कुछ लोगोंका ऐसा भी मत है कि यदि ऐसा कोई संबंध भी हो, तो वह न होना चाहिए। देहसे आत्माको अलग समझनेकी शिक्षा बचपनसे ही देनेकी योजना की जा सके, तो बड़े आनन्दकी बात होगी। यह शिक्षणका विषय है। आजकल कुशिक्षणके फलस्वरूप बड़े बुरे संस्कार बच्चोंके मनपर पड़ रहे हैं। 'मैं केवल देहरूप हूँ'—इस कल्पनामेंसे यह शिक्षण हमें बाहर लाता नहीं। सब देहके ही चोंचले चल रहे हैं, किन्तु इसके बावजूद देहको जो स्वरूप प्राप्त होना चाहिए, या देना चाहिए, वह तो कहीं दिखाई ही नहीं देता। इस तरह इस देहकी यह वृथा पूजा हो रही है। आत्माके माधुर्यकी ओर ध्यान ही नहीं है। वर्तमान शिक्षा-पद्धतिसे यह स्थिति बन गयी है। इस तरह देहकी पूजाका अभ्यास दिन-रात कराया जाता है।

ठेठ बचपनसे ही हमें इस देह-देवताकी पूजा-अर्चा करना सिखाया जाता है। जरा कहीं पाँवमें ठोकर लग गयी, तो मिट्टी लगानेसे काम चल जाता है। बच्चेका इतनेभरसे काम निपट जाता है या मिट्टी लगानेकी भी उसे जरूरत महसूस नहीं होती। थोड़ी-बहुत चोट-खुरचकी तो वह चिन्ता भी नहीं करेगा; परन्तु उस बच्चेका जो संरक्षक है, पालक है, उसका काम इतनेसे नहीं चलता। वह बच्चेको पास बुलाकर कहेगा—“हाय राम, चोट लग गयी ! कैसे लगी, कहाँ लगी ? अरेरे, खून निकल आया है !” ऐसा कहकर, वह बच्चा न रोता हो तो उलटा उसे हला देता है। न रोनेवाले बच्चेको हलानेकी इस वृत्तिको क्या कहा जाय ? कहते हैं,—“कूदफाँद मत करो, खेलने मत जाओ, देखो गिर पड़ोगे, चोट लग जायगी”, इस तरह देहपर ही ध्यान देनेवाला एकांगी शिक्षण दिया जाता है।

६. बच्चेकी प्रशंसा भी करते हैं, तो देहपक्षको लेकर, और उसकी निंदा भी देहपक्षको लेकर ही करते हैं। कहते हैं—“कैसा गन्दा है रे !” इससे बच्चेको कितनी चोट लगती है ! कैसा मिथ्या आरोप है यह ! गन्दगी है, यह सही है। उसे साफ करना चाहिए, यह भी सही है। लेकिन इस गन्दगीको सरलतासे साफ न करके उस बच्चेपर इस तरह आघात किया जाता है ! बच्चा उसे सहन नहीं कर पाता। वह बड़ा दुःखी हो जाता है। उसके अन्तरंगमें, उसकी आत्मामें स्वच्छता, निर्मलता भरी है, तो भी उसपर गंदे होनेका यह कैसा व्यर्थ आरोप ! वास्तवमें वह लड़का गन्दा नहीं है। जो अत्यन्त सुन्दर, मधुर, पवित्र, प्रिय परमात्मा है, वही वह है। उसीका अंश उसमें विद्यमान है। परन्तु उसे कहते हैं ‘गंदा’। उस गंदगीसे उसका क्या सम्बन्ध है; यह बात बच्चेकी समझमें नहीं आती, इसीलिए वह इस आघातको सहन नहीं कर पाता। उसके चित्तमें क्षोभ होता है और क्षोभ उत्पन्न होनेपर सुधार नहीं होता। अतः उसे अच्छी तरह समझाकर साफ-सुथरा रखना चाहिए।

७. इसके विपरीत कृति करके उस लड़केके मनपर हम यह अंकित करते हैं कि वह देह है। शिक्षण-शास्त्रमें एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तको

ध्यानमें रखना चाहिए। गुरुको यह भावना रखनी चाहिए कि मैं जिसे पढ़ा रहा हूँ, वह सर्वाङ्गसुन्दर है। सवाल गलत होनेपर मुँहपर थप्पड़ लगाते हैं। उस चाँटेसे और सवालकी गलतीसे क्या सम्बन्ध? स्कूलमें देरसे आया, तो लगाया चाँटा। चाँटेसे उसके गालपर रक्ताभिसरण तेज होने लगेगा, पर इससे क्या वह स्कूलमें जल्दी आयेगा? खूनकी यह तेजी क्या यह बतला सकेगी कि इस समय कितने बजे हैं? बल्कि सच पूछिये तो इस तरह मार-पीट करके हम उस बच्चेकी पशु-वृत्ति ही बढ़ाते हैं। 'तुम यह देह ही हो'—यह भावना पक्की करते हैं। उसका जीवन डरकी भावनापर खड़ा किया जाता है। सचमुच यदि हमें सुधार करना है, तो वह इस तरह जबरदस्ती करके देहासक्ति बढ़ानेसे कभी नहीं हो सकता। जब मैं यह समझ लूँगा कि मैं देहसे भिन्न हूँ, तभी मेरा सुधार हो सकेगा।

८. देहमें अथवा मनमें रहनेवाले किसी दोषका ज्ञान होना बुरा नहीं। इससे उस दोषको दूर करनेमें सहायता मिलती है; परन्तु हमें यह बात साफ तौरसे मालूम रहनी चाहिए कि 'मैं देह नहीं हूँ'। 'मैं' जो हूँ, सो इस देहसे सर्वथा भिन्न, पृथक्, अत्यन्त सुन्दर, उज्ज्वल, पवित्र, निर्दोष हूँ। अपने दोषोंको दूर करनेके लिए जो आत्म-परीक्षण करता है, वह भी तो अपनेको देहसे पृथक् करके ही ऐसा करता है। अतः जब कोई उसे उसका दोष दिखाता है तो उसे गुस्सा नहीं आता; बल्कि इस शरीररूपी, इस मनोरूपी यंत्रमें क्या दोष है, इसका विचार करके वह अपना दोष दूर करता है। इसके विपरीत जो देहको अपनेसे पृथक् नहीं मानता, वह सुधार कर ही नहीं सकता। 'यह देह, यह पिंड, यह मिट्टी-का पुतला, यही मैं'—ऐसा जो मानता है, वह अपना सुधार कैसे करेगा? सुधार तभी हो सकेगा, जब हम यह मानेंगे कि यह देह साधनरूपमें मुझे मिली है। चरखेमें यदि किसीने कोई कमी या दोष दिखाया, तो क्या मुझे गुस्सा आता है? बल्कि कोई दोष होता है, तो मैं उसे दूर करता हूँ। ऐसी ही बात देहकी है। जैसे खेतीके औजार, वैसी ही यह देह है। देह भगवान्‌के घरकी खेतीका एक औजार ही है। यह औजार यदि खराब

हो जाय, तो इसे अवश्य बनाना, सुधारना चाहिए। यह देह एक साधन-के रूपमें प्रस्तुत है। अतः देहसे अपनेको अलग रखकर दोषोंसे मुक्त होनेका प्रयत्न हमें करना चाहिए। इस देहरूपी साधनसे मैं पृथक् हूँ, मैं स्वामी हूँ, मालिक हूँ, इस देहसे काम करानेवाला, इससे उत्कृष्ट सेवा लेनेवाला मैं हूँ। वचनसे ही इस प्रकार देहसे अलग रहनेकी वृत्ति सिखानी चाहिए।

९. खेलसे अलग रहनेवाले तटस्थ लोग जैसे खेलके गुण-दोषोंको अच्छी तरह देख सकते हैं, उसी तरह हम भी देह-मन-बुद्धिसे अपनेको अलग रखकर ही उनके गुण-दोष परख सकेंगे। कोई कहता है—“इधर जरा मेरी स्मरण-शक्ति कम हो गयी है, इसका कोई उपाय बताइये न !” जब मनुष्य ऐसा कहता है, तब वह उस स्मरणशक्तिसे भिन्न है, यह स्पष्ट हो जाता है। वह कहता है—“मेरी स्मरण-शक्ति खराब हो गयी है।” इसका अर्थ यह हुआ कि उसका कोई साधन, कोई औजार बिगड़ गया है। किसीका लड़का खो जाता है, किसीकी पुस्तक खो जाती है, पर कोई स्वयं खो गया है, ऐसा नहीं होता। अन्तमें मरते समय भी उसकी देह ही सब तरहसे नष्ट होती है, बेकार हो जाती है, पर वह स्वयं तो भीतरसे ज्यों-का-त्यों रहता है। वह निर्दोष और नीरोग रहता है। यह बात समझ लेने जैसी है और यदि समझमें आ जाय, तो इससे बहुतेरी झंझटोंसे छुटकारा मिल जायगा।

६९. देहासक्तिसे जीवन अवरुद्ध

१०. ‘देह ही मैं हूँ’, यह जो भावना सर्वत्र फैल रही है, इसके फल-स्वरूप मनुष्यने बिना विचारे ही देह-पुष्टिके लिए नाना प्रकारके साधन निर्माण कर लिये हैं। उन्हें देखकर बड़ा भय मालूम होता है। मनुष्यकी यह धारणा सतत रहती है कि यह देह पुरानी हो गयी, जीर्ण-शीर्ण हो गयी, तो भी येन-केन प्रकारेण इसे बनाये ही रखना चाहिए; परन्तु आखिर इस देहको, इस छिलकेको आप कबतक टिकाकर रख सकेंगे ? मृत्युतक ही न ? जब मौतका वारंट आ जायगा, तो क्षणभर भी शरीर टिकाये नहीं रख सकते। मृत्युके आगे सारा गर्व ठंडा पड़ जाता है।

फिर भी इस तुच्छ देहके लिए मनुष्य नाना प्रकारके साधन जुटाता है। दिन-रात इस देहकी चिन्ता करता है। कहते हैं कि देहकी रक्षाके लिए मांस खानेमें कोई हर्ज नहीं है। मानो मनुष्यकी देह बड़ी कीमती है, उसे बचानेके लिए मांस खाओ ! तो पशुकी देह क्या कीमतमें कम है ? और है, तो क्यों ? मनुष्य-देह क्यों कीमती सिद्ध हुई ? क्या कारण है ? पशु चाहे जिसे खाते हैं, सिवा स्वार्थके वे दूसरा कोई विचार ही नहीं करते ! मनुष्य ऐसा नहीं करता, वह अपने आसपासकी सृष्टिकी रक्षा करता है। अतः मानव देहका मोल है, इसलिए वह कीमती है। परन्तु जिस कारण मनुष्यकी देह कीमती साबित हुई, उसीको तुम मांस खाकर नष्ट कर देते हो ! भले आदमी, तुम्हारा बड़प्पन तो इसी बातपर अवलंबित है न कि तुम संयमसे रहते हो, सब जीवोंकी रक्षाके लिए उद्योग करते हो, सबकी सार-सँभाल रखनेकी भावना तुममें है ! पशुसे भिन्न जो यह विशेषता तुममें है, उसीसे न मनुष्य श्रेष्ठ कहलाता है ? इसीसे मानव-देह 'दुर्लभ' कही गयी है। परन्तु जिस आधारपर मनुष्य बड़ा-श्रेष्ठ-हुआ है, उसीको यदि वह उखाड़ने लगा, तो फिर उसके बड़प्पनकी इमारत टिकेगी कैसे ? साधारण पशु जो अन्य प्राणियोंका मांस खानेकी क्रिया करते हैं, वही क्रिया यदि मनुष्य निःसंकोच होकर करने लगे, तो फिर उसके बड़प्पनका आधार ही खींच लेने जैसा होगा। यह तो जिस डालपर मैं बैठा हूँ, उसीको काटनेका प्रयत्न करने जैसा हुआ।

११. आजकल वैद्यक-शास्त्र नाना प्रकारके चमत्कार दिखा रहा है। पशुकी देहपर शल्यक्रिया करके उसके शरीरमें-उस जीवित पशुके शरीरमें रोग-जंतु उत्पन्न करते हैं और देखते हैं कि उन रोगोंका उसपर क्या असर होता है। सजीव पशुको इस तरह महान् कष्ट देकर जो ज्ञान प्राप्त किया जाता है, उसका उपयोग इस क्षुद्र मानव-देहको बचानेके लिए किया जाता है ! और यह सब चलता है 'भूत-दया' के नामपर। पशुके शरीरमें जंतु पैदा करके उसकी लस निकालकर मनुष्यके शरीरमें डालते हैं। ऐसे नाना प्रकारके भीषण कृत्य हो रहे हैं। जिस देहके लिए हम यह सब करते हैं, वह तो कच्चे काँचकी तरह है, जो पलभरमें ही फूट सकता है।

वह कब फूटेगा, इसका जरा भी भरोसा नहीं। यद्यपि मानव-देहकी रक्षाके लिए ये सारे उद्योग हो रहे हैं, फिर भी अंतमें अनुभव क्या आता है? ज्यों-ज्यों इस नाजुक देहको सँभालनेका प्रयत्न किया जाता है, त्यों-त्यों इसका नाश हो रहा है। यह प्रतीति हमें हो रही है, फिर भी इस देहको मोटी-ताजी करनेका, इसकी महिमा बढ़ानेका प्रयत्न जारी ही है।

१२. हमारा ध्यान कभी इस बातकी ओर नहीं जाता कि किस प्रकारका आहार करनेसे बुद्धि सात्त्विक होगी। मनुष्य देखता भी नहीं कि मनको अच्छा बनानेके लिए क्या करना चाहिए और किस वस्तुकी सहायता लेनी चाहिए। वह तो इतना ही देखता है कि शरीरका वजन किस तरह बढ़ेगा। वह इसकी चिंता करता दीखता है कि जमीनपरकी मिट्टी उठकर उसके शरीरपर कैसे चिपक जाय, मिट्टीके लोंदे उसके शरीरपर कैसे लद जायँ ! पर जैसे थोपा हुआ गोबरका कंडा सूखनेपर नीचे गिर पड़ता है, उसी तरह शरीरपर चढ़ाया यह मिट्टीका लेप, यह चरबी, अंतमें गल जाती है और शरीर फिर अपनी असली स्थितिमें आ जाता है। आखिर इसका मतलब क्या कि हम शरीरपर इतनी मिट्टी चढ़ा लें, इतना वजन बढ़ा लें कि शरीर उसका बोझ ही न सह सके ? शरीरको इतना थुलथुल बनाया ही क्यों जाय ? यह शरीर हमारा एक साधन है, अतः इसे ठीक रखनेके लिए जो कुछ आवश्यक है, वह सब हमें करना चाहिए। यंत्रसे काम लेना चाहिए। लेकिन क्या कहीं यंत्रको भी अभिमान-‘यंत्राभिमान’ भी होता है ? फिर इस शरीररूपी यंत्रके संबंधमें भी हम इसी तरह विचार क्यों न करें ?

१३. सारांश, यह देह साध्य नहीं, साधन है। यदि हमारा यह भाव दृढ़ हो जाय, तो फिर शरीरका जो इतना आडम्बर बाँधा जाता है, वह न रहेगा। जीवन हमें निराले ही ढंगका दीखने लगेगा। फिर इस देहको सजानेमें हमें गौरवका अनुभव न होगा। वस्तुतः इस देहके लिए एक सादा कपड़ा काफी है। पर नहीं, हम चाहते हैं, वह नरम हो, मुलायम हो। उसका बढ़िया रंग हो, सुन्दर छपाई हो, अच्छे किनारे-बेल-बूटे हों, कलाबत्तू हो आदि। उसके लिए हम अनेक लोगोंसे तरह-तरहकी मेहनत

कराते हैं। यह सब क्यों ? उस भगवान्‌को क्या अक्ल नहीं थी ? यदि इस देहके लिए सुन्दर बेल-बूटों और नक्काशीकी जरूरत होती, तो जैसे बाघके शरीरपर उसने धारियाँ डाल दी हैं, वैसे क्या तुम्हारे-हमारे शरीरपर नहीं डाल देता ? उसके लिए क्या यह असंभव था ? वह मोरकी तरह सुन्दर पूँछ हमें भी लगा सकता था; परन्तु ईश्वरने मनुष्यको एक ही रंग दिया है। उसमें जरा-सा दाग पड़ जाता है, तो उसका सौंदर्य नष्ट हो जाता है। मनुष्य जैसा है, वैसा ही सुन्दर है। परमेश्वरका यह उद्देश्य ही नहीं है कि मनुष्य-देहको सजाया जाय। सृष्टिमें क्या सामान्य सौंदर्य है ? मनुष्यका काम इतना ही है कि वह अपनी आँखोंसे इसे निहारता रहे; परन्तु वह रास्ता भूल गया है। कहते हैं कि जर्मनीने हमारे रंगको मार दिया। अरे भाई, तुम्हारे मनका रंग तो पहले ही मर चुका, बादमें तुम्हें इस बनावटी रंगका शौक लगा ! उसीके लिए तुम परावलंबी हो गये। व्यर्थ ही तुम इस शरीर-शृंगारके चक्करमें पड़ गये। मनको सजाना, बुद्धिका विकास करना, हृदयको सुन्दर बनाना तो एक तरफ ही रह गया !

७०. तत्त्वमसि

१४. इसलिए भगवान्‌ने इस तेरहवें अध्यायमें जो विचार हमें दिया है, वह बड़ा कीमती है। 'तू देह नहीं, आत्मा है।' तत् त्वमसि—वह आत्मरूप तू है। यह बड़ा उच्च, पवित्र उद्गार है। पावन और उदात्त वचन है। संस्कृत-साहित्यमें यह बड़ा ही महान् विचार समाविष्ट किया गया है—“यह ऊपरका कवच, छिलका, ढाँचा तू नहीं है। वह असल अविनाशी फल तू है।” जिस क्षण मनुष्यके हृदयमें यह विचार स्फुरित होगा कि 'सो तू है', 'यह देह मैं नहीं, वह परमात्मा मैं हूँ'—यह भाव मनमें जम जायगा, उसी क्षण उसके मनमें एक प्रकारका अननुभूत आनन्द लहराने लगेगा। मेरे उस रूपको मिटानेकी—नष्ट कर डालनेकी—सामर्थ्य संसारकी किसी भी वस्तुमें नहीं है, किसी भी व्यक्तिमें नहीं है। यह सूक्ष्म विचार इस उद्गारमें भरा हुआ है।

१५. इस देहसे परे अविनाशी और निष्कलंक जो आत्मतत्त्व है, वही मैं हूँ। उस आत्मतत्त्वके लिए मुझे यह शरीर मिला हुआ है। जब-जब

उस परमेश्वरीय तत्त्वके दूषित हो जानेकी संभावना होगी, तब-तब मैं उसे बचानेके लिए इस देहको फेंक दूँगा। परमेश्वरीय तत्त्वको उज्ज्वल रखनेके लिए यह देह होमनेको मैं सदा तैयार रहूँगा। मैं जो इस देहपर सवार होकर आया हूँ, सो क्या इसलिए कि अपनी दुर्दशा कराऊँ ? देहपर मेरी सत्ता चलनी चाहिए। मैं इस देहका उपयोग करूँगा और इसके द्वारा हित-मंगलकी वृद्धि करूँगा। आनन्दें भरीन तिन्ही लोक—‘आनन्द त्रिलोकमें भरूँगा।’ इस देहको मैं महान् तत्त्वोंके लिए फेंक दूँगा और ईश्वरका जयजयकार करूँगा। रईस आदमी कपड़ा मैला होते ही उसे फेंक देता है और दूसरा पहन लेता है, वैसा ही मैं भी करूँगा। कामके लिए इस देहकी जरूरत है। जिस समय यह देह कामके लायक न रह जायगी, उस समय इसे फेंक देनेमें मुझे क्या पशोपेश हो सकता है ?

१६. सत्याग्रहके द्वारा हमें यही शिक्षण मिलता है। देह और आत्मा, ये अलग-अलग चीजें हैं। जिस दिन मनुष्य इस मर्मको समझ जायगा, उसी दिन उसके सच्चे शिक्षणकी, वास्तविक विकासकी शुरुआत होगी। उसी समय हमें सत्याग्रह सधेगा। अतः प्रत्येकको यह भावना हृदयमें अंकित कर लेनी चाहिए। देह तो निमित्तमात्र साधन है, परमेश्वरका दिया हुआ एक औजार है। जिस दिन उसका उपयोग समाप्त होगा, उसी दिन उसे फेंक देना है। सर्दिके गरम कपड़े हम गर्मियोंमें फेंक देते हैं, रातको ओढ़े हुए कंबल सुबह हटा देते हैं, सुबहके कपड़े दोपहरको निकाल देते हैं, उसी तरह इस देहको समझो। जबतक देहका उपयोग है, तबतक उसे रखेंगे। जिस दिन इसका उपयोग न रहेगा, उसी दिन यह देहरूपी कपड़ा फेंक देंगे। आत्माके विकासके लिए भगवान् यह युक्ति हमें बता रहे हैं।

७१. जालिमकी सत्ता समाप्त

१७. जबतक हम यह न समझ लेंगे कि देहसे मैं अलग हूँ, तबतक जालिम लोग हमपर जरूर जुल्म ढाते रहेंगे, हमें बंदा-‘गुलाम’-बनाते रहेंगे, हमें न जाने क्या-क्या त्रास देते रहेंगे ! भयके कारण ही जुल्म शक्य होता है।

एक राक्षसने एक आदमीको पकड़ रखा था। वह उससे बराबर काम लेता रहता था। जब कभी वह काम न करता, तो राक्षस कहता—“खा जाऊँगा, तुझे चट कर डालूँगा।” गुरुमें तो वह मनुष्य डरता रहा, परन्तु जब वह धमकी असह्य हो गयी, तो उसने कहा—“ले, खा डाल। खाना हो तो खा जा।” पर राक्षस उसे खा जानेवाला थोड़े ही था ! उसे एक बंदा, गुलाम चाहिए था। खा जानेपर उसका काम कौन करता ? वह तो सिर्फ उसे खा जानेकी धमकी दिया करता था; परन्तु ज्यों ही यह जवाब मिला कि ‘ले, खा जा’, त्यों ही उसका जुल्म बन्द हो गया।

जालिम लोग यह जानते हैं कि ये लोग देहसे चिपके रहनेवाले हैं। इनकी देहको कष्ट पहुँचा कि ये गुलाम बने। परन्तु जहाँ आपने देहकी आसक्ति छोड़ दी कि तुरन्त सम्राट् बन जायँगे। सारी सामर्थ्य आपके हाथमें आ जायगी। फिर आपपर किसीका हुक्म नहीं चलेगा। जुल्म करनेका आधार ही टूट जायगा। उसकी बुनियाद ही इस भावनापर है कि ‘देह मैं हूँ’। वे समझते हैं कि इनकी देहको सताया कि ये बशमें आये। इसीलिए वे धमकीकी भाषा बोलते हैं।

१८. ‘मैं देह हूँ’,—मेरी इस भावनाके कारण ही दूसरोंको मुझपर जुल्म करनेकी, सतानेकी इच्छा होती है। परन्तु इंग्लैंडके शहीद क्रैमरने क्या कहा था ? “मुझे जलाते हो ! अच्छा, जला डालो। लो, पहले यह दाहिना हाथ जलाओ।” इसी तरह रिड्ले और लटिमरने कहा था—“तुम जलाना चाहते हो ? हमें कौन जला सकता है ? हम तो धर्मकी ऐसी ज्योति जला रहे हैं कि उसे कोई बुझा नहीं सकता। शरीररूपी इस मोमबत्तीको, इस चरबीको जलाकर सत्तत्त्वोंकी ज्योति जलाये रखना तो हमारा काम ही है। देह मिट जायगी, वह तो मिटनेवाली ही है।”

१९. सुकरातको विष देकर मारनेकी सजा दी गयी। उसने कहा—“मैं अब बूढ़ा हो गया हूँ। चार दिनके बाद देह छूटनेवाली थी। जो मरनेवाला था, उसे मारकर आप लोग कौन-सी बहादुरी कर रहे हैं ? जरा सोचो तो कि यह शरीर एक दिन अवश्य मरनेवाला है। जो मर्त्य

है, उसे मारनेमें कौन-सी बहादुरी है ?” जिस दिन सुकरातको विष दिया जानेवाला था, उससे पहली रात वह शिष्योंको आत्माके अमरत्वकी शिक्षा दे रहा था। शरीरमें विषका प्रवेश होनेपर उसे क्या-क्या वेदनाएँ होंगी, इसका वर्णन वह मौजसे कर रहा था। उसे उसकी रत्ती-भर भी चिन्ता न थी। आत्माकी अमरतासंबंधी यह चर्चा समाप्त होनेपर उसके एक शिष्यने पूछा—“मारनेपर आपकी अंत्येष्टि-क्रिया कैसे की जाय ?” उसने जवाब दिया—“खूब, मारेंगे तो वे और गाड़ोगे तुम ! तो क्या वे मारनेवाले मेरे दुश्मन और तुम गाड़नेवाले मुझसे बड़ा प्रेम करनेवाले हो ? वे अकलमन्दीसे मुझे मारेंगे और तुम समझदारीसे मुझे गाड़ोगे ? तुम कौन हो मुझे गाड़नेवाले ? मैं तुम सबको गाड़कर शेष बचनेवाला हूँ। तुम किसमें मुझे गाड़ोगे ? मिट्टीमें या नासमें ? मुझे न कोई मार सकता है, न कोई गाड़ ही सकता है। अबतक मैंने क्या समझाया तुम लोगोंको ? आत्मा अमर है, उसे कौन मार सकता है, कौन गाड़ सकता है ?” और सचमुच आज दो-ढाई हजार वर्षोंसे वह महान् सुकरात सबको गाड़कर जिन्दा है !

७२. परमात्म-शक्तिपर विश्वास

२०. सारांश, जबतक देहकी आसक्ति है, भय है, तबतक वास्तविक रक्षा नहीं हो सकती। तबतक सतत डर लगा रहेगा। यह डर बना रहेगा कि कहीं नींदमें साँप आकर काट न खाय, चोर आकर घात न कर जाय। मनुष्य सिरहाने डंडा लेकर सोता है। ‘क्यों ?’ तो कहता है—“पासमें रखना अच्छा है, कहीं चोर-बोर आ जाय तो ?” अरे भले आदमी ! कहीं चोर वही डंडा उठाकर तुम्हारे सिरपर मार दे तो ? चोर यदि डंडा लाना भूल गया हो, तो तुम उसके लिए पहलेसे ही तैयारी कर रखते हो। तुम किसके भरोसे सोते हो ? उस समय तो तुम दुनियाके हाथमें रहते हो। तुम जागते होगे, तभी न बचाव करोगे ? नींदमें तुम्हारी रक्षा कौन करेगा ?

२१. मैं किसी-न-किसी शक्तिपर विश्वास करके सोता हूँ। जिस शक्तिपर भरोसा रखकर बाघ, गाय आदि जानवर सोते हैं, उसीके

भरोसे मैं भी सोता हूँ। बाघको भी तो नींद आती है। जो सारी दुनिया-से बैर होनेके कारण हर घड़ी पीछे देखता है, ऐसा सिंह भी सोता ही है। उस शक्तिपर यदि विश्वास न होता, तो कुछ बाघ सोते और कुछ जगकर पहरा देते—ऐसी व्यवस्था उन्हें करनी पड़ती। जिस शक्तिपर विश्वास रखकर भेड़िया, बाघ, सिंह आदि क्रूर जीव भी सोते हैं, उसी विश्वव्यापक शक्तिकी गोदमें मैं भी सो रहा हूँ। माँकी गोदमें बच्चा निश्चिन्त सोता है। वह मानो उस समय दुनियाका बादशाह होता है। हमें चाहिए कि आप और हम भी उसी विश्वम्भर माताकी गोदमें इसी तरह प्रेम, विश्वास और ज्ञानपूर्वक सोनेका अभ्यास करें। जिस शक्तिके आधारपर मेरा यह सारा जीवन चल रहा है, उसका मुझे अधिकाधिक परिचय कर लेना चाहिए। उस शक्तिकी मुझे उत्तरोत्तर प्रतीति होनी चाहिए। इस शक्तिमें मुझे जितना विश्वास पैदा होगा, उतना ही अधिक मेरा रक्षण हो सकेगा। जैसे-जैसे मुझे इस शक्तिका अनुभव होता जायगा, वैसे-ही-वैसे मेरा विकास होता जायगा। इस तेरहवें अध्यायमें इसका किंचित् क्रम भी दिग्दर्शित किया गया है।

७३. परमात्म-शक्तिका उत्तरोत्तर अनुभव

२२. जबतक देहस्थित आत्माका विचार नहीं आता, तबतक मनुष्य साधारण क्रियाओंमें ही तल्लीन रहता है। भूख लगी तो खा लिया, प्यास लगी तो पानी पी लिया, नींद आयी तो सो गये। इससे अधिक वह कुछ नहीं जानता। इन्हीं बातोंके लिए वह लड़ेगा, इन्हींकी प्राप्तिका लोभ मनमें रखेगा। इस तरह इन दैहिक क्रियाओंमें ही वह मग्न रहता है। विकासका आरम्भ तो इसके बाद होता है। इस समयतक आत्मा सिर्फ देखती रहती है। माँ जिस तरह कुएँकी ओर रेंगते जानेवाले बच्चेके पीछे सतत सतर्क खड़ी रहती है, उसी प्रकार आत्मा हमपर निगाह रखे खड़ी रहती है। शांतिके साथ वह सब क्रियाओंको देखती है। इस स्थिति-को 'उपद्रष्टा'—साक्षीरूपसे सब देखनेवाला—कहा है।

२३. इस अवस्थामें आत्मा देखती है, परन्तु अभी वह सम्मति नहीं देती है। परन्तु यह जीव, जो अबतक अपनेको देहरूप समझकर सब

क्रिया, सब व्यवहार, करता है, वह आगे चलकर जागता है। उसे भान होता है कि अरे, मैं पशुकी तरह जीवन बिता रहा हूँ! जीव जब इस तरह विचार करने लगता है, तब उसकी नैतिक भूमिका शुरू होती है। तब पग-पगपर वह उचित-अनुचितका विचार करता है। विवेकसे काम लेने लगता है। उसकी विश्लेषण-बुद्धि जाग्रत होती है। स्वैर क्रियाएँ रुकती हैं। स्वच्छन्दताकी जगह संयम आता है।

२४. जब जीव इस नैतिक भूमिकामें आता है, तब आत्मा केवल चुप बैठकर नहीं देखती, वह भीतरसे अनुमोदन करती है—‘शाबाश’, ‘बूब’,—ऐसी आवाज अन्दरसे आती है। अब आत्मा केवल ‘उपद्रष्टा’ न रहकर ‘अनुमन्ता’ बन जाती है।

कोई भूखा अतिथि द्वारपर आ जाय, आप अपनी परोसी थाली उसे दे दें और फिर रातको अपनी इस सत्कृतिका स्मरण हो, तो देखिये मनको कितना आनंद होता है! भीतरसे आत्माकी हलकी आवाज कानोंमें पहुँचती है, ‘बहुत अच्छा किया’। माँ जब बच्चेकी पीठपर हाथ फिराकर कहती है,—‘अच्छा किया बेटा’, तो उसे ऐसा लगता है, मानो दुनियाकी सारी बख्शिश उसे मिल गयी। उसी तरह हृदयस्थ परमात्मा-के ‘शाबाश बेटा’, शब्द हमें प्रोत्साहन और प्रेरणा देते हैं। ऐसे समय जीव भोगमय जीवन छोड़कर नैतिक जीवनकी भूमिकामें आ खड़ा होता है।

२५. इसके बादकी भूमिका यह है : नैतिक जीवनमें मनुष्य कर्तव्य-कर्मके द्वारा अपने मनके सभी मैलोंको धोनेका यत्न करता है, परन्तु जब मनुष्य ऐसा करते-करते थकने लगता है, तब जीव ऐसी प्रार्थना करने लगता है—‘हे भगवन् ! मेरे उद्योगोंकी, मेरी शक्तिकी पराकाष्ठा हो गयी। मुझे अधिक शक्ति दे, अधिक बल दे।’ जबतक मनुष्यको यह अनुभव नहीं होता कि अपने सभी प्रयत्नोंके बावजूद वह अकेला ही पर्याप्त नहीं हो सकता, तबतक प्रार्थनाका मर्म उसकी समझमें आ नहीं सकता। अपनी सारी शक्ति लगानेपर भी, जब वह पर्याप्त नहीं जान पड़ती, तब आर्तभावसे द्रौपदीकी तरह परमात्माको पुकारना चाहिए।

परमेश्वरकी कृपा और सहायताका स्रोत तो सतत बहता ही रहता है। जिस किसीको प्यास लग रही हो, वह अपना हक समझकर उसमेंसे पानी पी सकता है। जिसे कमी पड़ती हो, वह माँग ले। इस तरहका सम्बन्ध इस तीसरी भूमिकामें आता है। परमात्मा और अधिक निकट आता है। अब वह केवल शाब्दिक शाबाशी न देते हुए सहायता करनेके लिए दौड़ आता है।

२६. पहले परमेश्वर दूर खड़ा था। गुरु जिस तरह शिष्यसे यह कहकर कि 'सवाल हल करो' दूर खड़ा रहता है, उसी तरह जबतक जीव भोगमय जीवनमें लिप्त रहता है, तबतक परमात्मा दूर खड़ा रहता है। वह कहता है—“ठीक है, मारने दो हाथ-पैर।” फिर जीव नैतिक भूमिकामें आता है। तब परमात्मा केवल तटस्थ नहीं रहता। जीवके हाथसे सत्कर्म हो रहा है, ऐसा देखते ही भगवान् धीरेसे झाँकता है और कहता है—‘शाबाश!’ इस तरह सत्कर्म होते-होते जब चित्तके स्थूल मैल धुल जाते हैं, सूक्ष्म मैल धुलनेका समय आता है और जब उसके सारे प्रयत्न थकने लगते हैं, तब वह परमात्माको पुकारता है और वह ‘आया’ कहकर दौड़ आता है। भक्तका उत्साह कम पड़ते ही वह वहाँ आ खड़ा होता है। जगत्का सेवक सूर्यनारायण आपके द्वारपर सदैव खड़ा ही है। बन्द द्वारको तोड़कर सूर्य भीतर नहीं घुसेगा, क्योंकि वह सेवक है। वह स्वामीकी मर्यादाका पालन करता है। वह दरवाजेको धक्का नहीं देता। भीतर मालिक सोया है, इसलिए सूर्यरूपी सेवक दरवाजेके बाहर खड़ा रहता है। जरा-सा दरवाजा खोलते ही वह सारा-का-सारा प्रकाश लेकर भीतर घुस आता है और अँधेरा दूर कर देता है! परमात्मा भी ऐसा ही है। उससे मदद माँगी कि वह बाँह फैलाकर आया ही। भीमाके किनारे (पंढरपुरमें) कमरपर हाथ रखकर वह तैयार ही खड़ा है।

उभाळनि बाहे । बिठो पालवीत आहे ॥

ऐसा वर्णन तुकाराम आदिने किया है। नाक खुली रखी कि हवा भीतर घुसी। दरवाजा जरा-सा खोला कि प्रकाश भीतर आया। वायु

और प्रकाशके दृष्टान्त भी मुझे अधूरे मालूम होते हैं। उनकी अपेक्षा भी परमात्मा अधिक समीप, अधिक उत्सुक है। वह उपद्रष्टा, अनुमन्ता न रहकर 'भर्ता'—सब तरह सहायक—बनता है। मनकी मलिनता मिटानेके लिए असहाय होकर जब हम पुकारते हैं—**मारी नाड़ तमारे हाथे प्रभु संभाळजो रे**। हम प्रार्थना करते हैं—**तू ही एक मेरा मददगार है, तेरा आसरा मुझको दरकार है**। तब फिर वह दयाघन कैसे दूर होगा ? भक्तकी सहायता करनेवाला वह भगवान्, अधूरेको पूरा करनेवाला वह प्रभु, दौड़ पड़ता है। तब वह रैदासके चमड़े धोता है, सजन कसाईका मांस बेचता है, कबीरकी चादर बुनता है और जनाबाईके साथ चक्की पीसता है।

२७. इसके बादको सीढ़ी यह है : परमेश्वरके कृपा-प्रसादसे कर्मका जो फल मिले, उसे स्वयं न लेकर उसीको अर्पण कर देना। इस भूमिका-में जीव परमेश्वरसे कहता है—“अपना फल तू ही भोग।” नामदेव धरना देकर बैठ गया कि “प्रभु, तुझे दूध पीना ही पड़ेगा !” कितना मधुर प्रसंग है ! वह सारा कर्मफलरूपी दूध नामदेव भगवान्को अर्पण कर रहा है ! इस तरह जीवनकी सारी पूँजी, सारी कमाई जिस पर-मेश्वरकी कृपासे प्राप्त हुई, उसीको वह समर्पित करनी है। धर्मराज स्वर्ग-में चरण रखनेवाले ही थे कि उनके साथके कुत्तेको आगे नहीं जाने दिया गया। तब उन्होंने अपने सारे जीवनका पुण्यफल—स्वर्गलाभ—एक क्षणमें छोड़ दिया। इसी तरह भक्त भी सारा फल-लाभ तत्काल ईश्वरार्पण कर देता है। ‘उपद्रष्टा’, ‘अनुमन्ता’, ‘भर्ता’—इन स्वरूपोंमें प्रतीत होने-वाला परमात्मा अब ‘भोक्ता’ हो जाता है। अब जीव उस भूमिकामें आ जाता है, जब परमात्मा ही इस शरीरमें भोगोंको भोगता है।

२८. इसके बाद संकल्प करना भी छोड़ देना है। कर्ममें तीन सोढ़ियाँ आती हैं। पहले हम संकल्प करते हैं, फिर कार्य करते हैं और बादमें फल आता है। कर्मके लिए प्रभुकी सहायता लेकर जो फल मिला, वह भी उसीको अर्पण कर दिया। कर्म करनेवाला परमेश्वर, फल चखने-वाला भी परमेश्वर ! अब उस कर्मका संकल्प करनेवाला भी परमेश्वर

हो जाने दो। इस प्रकार कर्मके आदि, मध्य और अन्तमें सर्वत्र प्रभुको ही रहने दो। ज्ञानदेवने कहा है—

माळियें जेउतें नेलें। तेंउतें निबांत चि गेलें।

तया पाणिया ऐसें केलें। होआवें गा॥

—‘माली जिधर ले जाय, उधर ही चुपचाप चले जानेवाले पानीकी तरह बनो।’

माली पानीको जिधर ले जाना चाहता है, उधर ही वह बिना चींचपड़ किये चला जाता है। माली अपनी पसन्दके फल-फूलके पौधोंको पानी पोसता और बढ़ाता है। इसी तरह मेरे हाथों जो होना है, वह उसीको तय करने दो। अपने चित्तके सभी संकल्पोंकी जिम्मेदारी मुझे उसीपर सौंपने दो। यदि मैंने अपना सारा बोझ घोड़ेपर डाल ही दिया है, तो बाकी बोझ मैं अपने सिरपर क्यों लादकर बैठूँ? वह भी घोड़ेकी पीठपर ही क्यों न लाद दूँ? अपने सिरपर बोझ रखकर भी यदि मैं घोड़ेपर बैठूँगा, तो भी बोझ घोड़ेपर ही पड़ेगा, फिर सारा ही बोझ उसकी पीठपर क्यों न लाद दूँ? इस तरह जीवनकी सभी हलचल, नाच-कूद, फलना-फलाना, सब कुछ अन्तमें परमात्मा ही हो जाता है। मेरे जीवनका वह ‘महेश्वर’ ही बन जाता है। इस तरह विकास होते-होते सारा जीवन ही परमेश्वरमय हो जाता है, केवल देहका पर्दा ही बाकी रहता है। वह जब हट जाता है, तो जीव और शिव, आत्मा और परमात्मा एक ही हो जाते हैं।

२९. इस प्रकार—

उपद्रष्टाऽनुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।

इस स्वरूपमें हमें परमात्माका उत्तरोत्तर अधिक अनुभव करना है। प्रभु पहले केवल तटस्थ रहकर देखता है। फिर नैतिक जीवनका आरम्भ होनेपर हमारे हाथोंसे सत्कर्म होने लगते हैं, तब वह हमें ‘शाबाशी’ देता है। फिर चित्तके सूक्ष्म मैल धो डालनेके लिए, अपने प्रयत्नोंको अपर्याप्त देखकर भक्त जब पुकारता है, तो वह अनाथ-नाथ सहायताके लिए दौड़ पड़ता है। उसके बाद फलको भी भगवान्को अर्पण करके उसे ‘भोक्ता’ बना देना और अन्तमें सभी संकल्प उसीको अर्पण करके सारा

जीवन हरिमय बनाना है। यही मानवका अन्तिम साध्य है। 'कर्मयोग' और 'भक्तियोग'-रूपी दो पंखोंसे उड़ते हुए साधकको इस अंतिम मंजिल-तक जा पहुँचना है।

७४. नम्रता, निर्दम्भता आदि मूलभूत ज्ञान-साधना

३०. यह सब करनेके लिए नैतिक साधनाकी मजबूत बुनियाद चाहिए। सत्य-असत्यका विवेक करके सत्यको ही सदा ग्रहण करना चाहिए। सार-असारका विचार करके सार ही लेना चाहिए। सीपको फेंककर मोती ग्रहण करना चाहिए। इस प्रकार जीवनका श्रीगणेश करना है। फिर आत्म-प्रयत्न और परमेश्वरीय कृपाके बलपर ऊपर चढ़ते जाना है। इस सारी साधनामें यदि हम देहसे आत्माको अलग करनेका अभ्यास डाल लें, तो हमें बड़ी मदद मिलेगी। ऐसे समय मुझे ईसाका बलिदान याद आ जाता है। उनके शरीरमें कीलें ठोंक-ठोंककर उनके प्राण ले रहे थे। कहते हैं, उस समय उनके मुँहसे ये उद्गार निकले—'भगवन्, इतनी यातनाएँ क्यों देते हैं?' किन्तु फौरन् भगवान् ईसाने अपनेको सँभाला और कहा—“प्रभु, तेरी ही इच्छा पूर्ण हो। इन लोगोंको क्षमा कर। ये नहीं जानते कि ये क्या कर रहे हैं!” ईसाके इस उदाहरणमें बड़ा रहस्य भरा है। देहसे आत्माको कितना अलग करना चाहिए, इसका यह प्रतीक है। कहाँतक मंजिल तय करनी है, कहाँतक वह तय की जा सकती है, यह ईसामसीहके जीवनसे मालूम हो जाता है। देह एक कवच, एक छिलकेकी तरह अलग हो रही है—यहाँतक मंजिल आ पहुँची है। जब-जब आत्माको देहसे अलग करनेका विचार मेरे मनमें आता है, तब-तब ईसामसीहका यह जीवन मेरी आँखोंके सामने आ जाता है। देहसे सर्वथा पृथक् हो जानेका, उससे मानो संबंध टूट जानेका उदाहरण ईसामसीहका जीवन पेश करता है।

३१. देह और आत्माका यह पृथक्करण तबतक शक्य नहीं है, जबतक सत्य-असत्यका विवेक न हो। यह विवेक, यह ज्ञान, हमारी रग-रगमें व्याप्त हो जाना चाहिए। ज्ञानका अर्थ हम करते हैं—‘जानना’, परन्तु बुद्धिसे जानना ज्ञान नहीं है। मुँहमें कौर डाल लेना भोजन कर

लेना नहीं है। मुँहमें डाला कौर चबाकर गलेमें जाना चाहिए और वहाँसे पेटमें जाकर, पचकर उसका रस-रक्त सारे शरीरमें पहुँचकर पुष्टि मिलनी चाहिए। ऐसा हो, तभी वह सच्चा भोजन होगा। उसी तरह कोरे बुद्धिगत ज्ञानसे काम नहीं चल सकता। वह जानकारी, वह ज्ञान सारे जीवनमें व्याप्त होना चाहिए, हृदयमें संचरित होना चाहिए। हमारे हाथ, पाँव, आँख आदि इंद्रियोंके द्वारा वह ज्ञान प्रकट होना चाहिए। ऐसी स्थिति हो जानी चाहिए कि सारी ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ विचारपूर्वक ही सब कर्म कर रही हैं। इसलिए इस तेरहवें अध्यायमें भगवान् ने ज्ञानकी बहुत बढ़िया व्याख्या की है। स्थितप्रज्ञके लक्षणकी तरह ही ज्ञानके लक्षण हैं—

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।

ऐसे बीस गुण भगवान् ने बताये हैं। वे केवल यह कहकर नहीं रुके कि इन गुणोंको 'ज्ञान' कहते हैं, बल्कि यह भी स्पष्ट बताया है कि इसके विपरीत जो कुछ है, वह अज्ञान है। ज्ञानकी जो साधना बतायी, उसीका अर्थ है ज्ञान। सुकरात कहता है कि सद्गुणको ही मैं ज्ञान मानता हूँ। साधना और साध्य, दोनों एकरूप ही हैं।

३२. गीताके इन बीस साधनोंको ज्ञानदेवने अठारह ही कर दिया है। उन्होंने इनका वर्णन बड़ी हार्दिकतासे किया है। इन गुणोंसे संबंध रखनेवाले केवल पाँच ही श्लोक भगवद्गीतामें हैं; परन्तु ज्ञानदेवने अपनी ज्ञानेश्वरीमें इनपर सात सौ ओवियाँ (छंद) लिखी हैं। वे इस बातके लिए बड़े चिन्तित थे कि समाजमें सद्गुणोंका विकास हो, सत्य-स्वरूप परमेश्वरकी महिमा फैले। इन गुणोंका वर्णन करते हुए उन्होंने अपना सारा अनुभव उन ओवियोंमें उँडेल दिया है। मराठी भाषा-भाषियोंपर उनका यह अनंत उपकार है। ज्ञानदेवके रोम-रोममें ये गुण व्याप्त थे। भैसेकी पीठपर जो चाबुक लगाया गया, उसका निशान ज्ञानदेवकी पीठ-पर उभर आया। भूतमात्रके प्रति इतनी दयार्द्रता उनमें थी। ज्ञानदेवके ऐसे करुणापूर्ण हृदयसे 'ज्ञानेश्वरी' प्रकट हुई है। इन गुणोंका उन्होंने विवेचन किया। उसका गुण-वर्णन हम पढ़ें, मनन करें और हृदयमें भर

लें। ज्ञानदेवकी यह मधुर भाषा मैं चख सका—इसके लिए मैं अपनेको धन्य मानता हूँ। उनकी मधुर भाषा मेरे मुँहमें आकर बैठ जाय, इसके लिए यदि मुझे फिरसे जन्म लेना पड़े, तो मैं धन्यताका ही अनुभव करूँगा। अस्तु। सार यह कि उत्तरोत्तर अपना विकास करते हुए, आत्माको देहसे पृथक् करते हुए सब लोग अपने जीवनको परमेश्वरमय बनानेका यत्न करें।

रविवार, १५-५-'३२

१४. गुणोत्कर्ष और गुण-निस्तार

७५. प्रकृतिका विश्लेषण

१. भाइयो, आजका चौदहवाँ अध्याय एक अर्थमें पिछले अध्याय-का पूरक ही है। सच पूछो तो आत्माको कुछ करनेकी आवश्यकता ही नहीं है। वह स्वयंपूर्ण है। हमारी आत्माकी गति स्वभावतः ही ऊर्ध्व-गामी है; परन्तु किसी वस्तुके साथ कोई भारी वजन बाँध दिया जाता है, तब जैसे वह नीचे खिंचती चली जाती है, उसी तरह शरीरका यह बोझ आत्माको नीचे खींच ले जाता है। पिछले अध्यायमें हमने यह देखा कि किसी भी उपायसे यदि देह और आत्माको हम पृथक् कर सकें, तो हमारी प्रगति हो सकती है। यह बात भले ही कठिन हो, पर इसका फल महान् है। आत्माके पाँवकी यह देहरूपी बेड़ी यदि हम काट सकें, तो हमें भारी आनन्द प्राप्त होगा। फिर मनुष्य देहके दुःखसे दुःखी न होगा। वह स्वतन्त्र हो जायगा। इस देहरूपी वस्तुको मनुष्य जीत ले, तो फिर संसारमें कौन उसपर सत्ता चला सकता है? जो स्वयंपर राज्य करता है, वह विश्वका सम्राट् हो जाता है। अतः आत्मापर देहकी जो सत्ता हो

गयी है, उसे हटा दो। देहके ये जो सुख-दुःख हैं, सब विदेशी हैं। सब विजातीय हैं। आत्मासे उनका तिलमात्र भी सम्बन्ध नहीं है।

२. इन सब दुःखोंको किस अंशतक देहसे अलग किया जाय, इसकी कल्पना मैंने भगवान् ईसाके उदाहरणद्वारा बतायी है। उन्होंने दिखा दिया है कि देह टूट रही हो, फिर भी हम किस तरह शांत और आनन्दमय रहें; परन्तु इस तरह देहको आत्मासे अलग रखना जहाँ एक ओर विवेकका काम है, वहाँ दूसरी ओर वह निग्रहका भी काम है।

विवेकासहित वैराग्याचें बल ।

‘विवेकके साथ वैराग्यका बल ।’—ऐसा तुकारामने कहा है। विवेक और वैराग्य, दोनों बातोंकी जरूरत है। वैराग्य ही एक प्रकार निग्रह, तितिक्षा है। इस चौदहवें अध्यायमें निग्रहकी दिशा दिखायी गयी है। नावको खेनेका काम डाँड करते हैं, परन्तु दिशा दिखानेका काम पतवार करती है। डाँड और पतवार, दोनों चाहिए। उसी तरह देहके सुख-दुःखोंसे आत्माको अलग रखनेके लिए विवेक और निग्रह, दोनोंकी आवश्यकता है।

३. वैद्य जिस तरह मनुष्यकी प्रकृति देखकर दवा बताता है, उसी तरह भगवान्ने चौदहवें अध्यायमें सम्पूर्ण प्रकृतिको परीक्षा करके, पृथक्करण करके, कौन-कौन-सी बीमारियाँ हैं, यह बताया है। इसमें प्रकृतिके ठीक-ठीक विभाग किये गये हैं। राजनीति-शास्त्रमें विभाजनका एक बड़ा सूत्र है। जो शत्रु सामने है, उसके दलमें यदि विभाजन किया जा सके, भेद डाला जा सके, तो वह शीघ्र पराजित किया जा सकता है। भगवान्ने यहाँ ऐसा ही किया है।

मेरी, आपकी, सब जीवोंकी, सारे चराचरकी जो प्रकृति है, उसमें तीन गुण हैं। जिस तरह आयुर्वेदमें कफ, पित्त, वात हैं; उसी तरह यहाँ सत्त्व, रज, तम, ये तीन गुण प्रकृतिमें भरे हुए हैं। सब जगह इन्हीं तीन गुणोंका मसाला भरा है, कहीं कम है, तो कहीं ज्यादा; इतना ही अन्तर है। जब इन तीनोंसे आत्माको अलग करेंगे, तभी देहसे आत्माको अलग किया जा सकेगा। देहसे आत्माको अलग करनेका तरीका ही है, इन

तीन गुणोंकी परीक्षा करके इन्हें जीत लेना । निग्रहके द्वारा एक-एक वस्तुको जीतकर अन्तमें मुख्य वस्तुतक जा पहुँचना है ।

७६. तमोगुण और उसका उपाय शरीर-श्रम

४. पहले हम तमोगुणको लें । वर्तमान समाज-स्थितिमें हमें तमोगुणके बहुत ही भयानक परिणाम दिखाई देते हैं । इसका मुख्य परिणाम है, आलस्य । इसीमेंसे फिर नींद और प्रमादका जन्म होता है । इन तीन बातोंको जीत लिया, तो फिर तमोगुणको जीत लिया ही समझो । इनमें आलस्य तो बड़ा ही भयंकर है ! अच्छे-से-अच्छे आदमी भी आलस्यके कारण बिगड़ जाते हैं । समाजकी सारी सुख-शांतिको मिटा डालनेवाला यह रिपु है । यह छोटेसे लेकर बड़ेतक, सबको बिगाड़ देता है । इस शत्रुने सबको घेर रखा है । यह हमपर हावी होनेके लिए घात लगाकर बैठा ही रहता है । जरा-सा मौका मिला कि भीतर घुसा । दो कौर ज्यादा खा लिये कि इसने लेटनेको विवश किया । जहाँ ज्यादा लेटे कि आँखोंसे आलस्य टपका । जबतक इस आलस्यको न पछाड़ा, तबतक सब प्रयत्न व्यर्थ हैं । परन्तु हम तो आलस्यके लिए उत्सुक रहते हैं ! इच्छा रहती है कि एक बार दिन-रात मेहनत करके रुपया इकट्ठा कर लें, फिर सारी जिंदगी चैनसे कटे । बहुत रुपये कमानेका अर्थ है, आगेके लिए आलस्यकी तैयारी कर रखना । हम लोग आम तौरपर मानते हैं कि बुढ़ापेमें आरामकी जरूरत रहती है; परन्तु यह धारणा गलत है । यदि हम जीवनमें ठीक तरहसे रहें, तो बुढ़ापेमें भी काम करते रहेंगे । बल्कि अधिक अनुभवी हो जानेसे बुढ़ापेमें ज्यादा उपयोगी साबित होंगे । लेकिन उसी समय, कहते हैं कि आराम करेंगे !

५. ऐसी सावधानी रखनी चाहिए कि जिससे आलस्यको जरा-सा भी मौका न मिले । नल राजा इतना महान् ! परन्तु पाँव धोते हुए जरा-सा हिस्सा सूखा रह गया, तो कहते हैं कि उसीमेंसे कलि भीतर पैठ गया ! नल राजा था तो अत्यन्त शुद्ध, सब तरहसे स्वच्छ, परन्तु जरा-सा शरीर सूखा रह गया, इतना आलस्य रह गया, तो फौरन्

‘कलि’ भीतर घुस गया। हमारा तो सारा-का-सारा शरीर खुला पड़ा है। कहींसे भी आलस्य हमारे अन्दर घुस सकता है। शरीर अलसाया कि मन-बुद्धि भी अलसाने लगती है। आजके समाजकी रचना इस आलस्य-पर ही खड़ी है। इससे अनन्त दुःख उत्पन्न हो गये हैं। यदि हम इस आलस्यको निकाल सकें, तो सब न सही, बहुतसे दुःखोंको तो अवश्य ही हम दूर कर सकेंगे।

६. आजकल चारों ओर समाज-सुधारकी चर्चा चलती है। साधारण आदमीको भी कम-से-कम इतना सुख मिलना चाहिए और इसके लिए अमुक तरहकी समाज-रचना होनी चाहिए, आदि चर्चा चलती है। एक ओर अतिशय सुख है, तो दूसरी ओर अतिशय दुःख। एक ओर संपत्तिका ढेर, तो दूसरी ओर दरिद्रताकी गहरी खाई ! यह सामाजिक विषमता कैसे दूर हो ? सभी आवश्यक सुख सहज रूपसे प्राप्त करनेका एक ही उपाय है और वह है आलस्य छोड़कर सब श्रम करनेको तैयार हों। मुख्य दुःख हमारे आलस्यके ही कारण है। यदि सब लोग शारीरिक श्रमका निश्चय कर लें, तो दुःख दूर हो जाय।

परन्तु आज समाजमें हमें क्या दीखता है ? एक ओर जंग चढ़कर निरूपयोगी बने हुए लोग हैं। श्रीमानोंकी इन्द्रियाँ जंग खा रही हैं। उनके शरीरका उपयोग ही नहीं किया जा रहा है। दूसरी ओर इतना काम करना पड़ रहा है कि सारा शरीर घिस-घिसकर गल गया है। सारे समाजमें शारीरिक श्रमसे बचनेकी प्रवृत्ति हो रही है। जो मर-पचकर काम करते हैं, वे खुशी-खुशी ऐसा नहीं करते। छुटकारा नहीं है, इसलिए करते हैं। पढ़े-लिखे समझदार लोग श्रमसे बचनेके लिए तरह-तरहके बहाने बनाते हैं। कोई कहते हैं—“व्यर्थ क्यों शारीरिक श्रममें समय गँवायें ?” परन्तु कोई ऐसा नहीं कहता—“यह नींद क्यों लें ?” “भोजनमें समय क्यों नष्ट करें ?” भूख लगती है, तो खाते हैं। नींद आती है, तो सो जाते हैं। परन्तु जब शारीरिक श्रमका प्रश्न आता है, तभी हम कहते हैं—“व्यर्थ क्यों अपना समय नष्ट करें ? हम क्यों यह काम करें ? क्यों हम अपने शरीरको इतने कष्टमें डालें ? हम मानसिक

श्रम तो कर ही लेते हैं !” भले आदमी ! यदि मानसिक काम करते हैं, तो फिर खाना भी मानसिक खा लीजिये और नींद भी मानसिक ले लीजिये ! मनोमय भोजन करनेकी योजना बना लीजिये न !

७. इस तरह समाजमें दो तरहके लोग हैं । एक तो वे, जो दिन-रात पिसते-मरते हैं और दूसरे वे, जो हाथतक नहीं हिलाते । मेरे एक मित्रने एक दिन कहा—“कुछ रुण्ड हैं तो कुछ मुण्ड ।” एक ओर धड़ हैं, दूसरी ओर सिर ! धड़ सिर्फ खपता है, सिर सिर्फ विचार करता है । इस तरह समाजमें ये राहु-केतु, रुण्ड और मुण्ड, ऐसे दो प्रकार हो गये हैं । परन्तु यदि सचमुच ही ये रुण्ड-मुण्ड होते, तो अच्छा होता । तब अंध-पंगु न्यायसे ही कोई व्यवस्था हो सकती थी । अंधेको लँगड़ा रास्ता दिखाता, लँगड़ेको अंधा कंधेपर बैठाता । परन्तु यहाँ केवल रुण्डके अथवा केवल मुण्डके अलग-अलग गुट नहीं हैं । प्रत्येकमें रुण्ड और मुण्ड दोनों हैं । ये जुड़े रुण्ड-मुण्ड सब जगह हैं । तब क्या करें ? उपाय यही है कि प्रत्येक व्यक्ति आलस्य छोड़ दे ।

८. आलस्य छोड़नेके लिए शारीरिक श्रम करना चाहिए । आलस्य-को जीतनेका यही एक उपाय है । यदि इससे काम न लिया गया, तो इसकी सजा भी प्रकृतिकी ओरसे मिले बिना न रहेगी । बीमारियोंके या किसी और कष्टके रूपमें वह सजा भोगनी ही पड़ेगी । जब कि हमें शरीर मिला है, तो श्रम करना ही होगा । शरीर-श्रममें जो समय लगता है, वह व्यर्थ नहीं जाता । इसका प्रतिफल अवश्य मिलता है । उत्तम आरोग्य प्राप्त होता है । बुद्धि सतेज, तीव्र और शुद्ध होती है । कई विचारकोंके विचारोंमें भी उनके पेट-दर्द और सिर-दर्दका प्रतिबिम्ब प्रकट होता है । विचारशील लोग यदि धूपमें, खुली हवामें, सृष्टिके सान्निध्यमें श्रम करेंगे, तो उनके विचार भी तेजस्वी बनेंगे । शारीरिक रोगका जैसे मनपर असर होता है, वैसे ही शारीरिक आरोग्यका भी होता है, यह अनुभवसिद्ध है । बादमें क्षय रोग होनेपर भुवाली या और कहीं पहाड़-पर शुद्ध हवामें जाने या सूर्य-किरणोंका प्रयोग करनेके पहले ही यदि

बाहर कुदाली लेकर खोदने, बागमें पेड़ोंको पानी देने और लकड़ी चीरने-का काम करें, तो क्या बुरा है ?

७७. तमोगुणका एक और उपाय

९. पहली बात है आलस्य जीतना; दूसरी बात है नींद जीतना । नींद वस्तुतः पवित्र वस्तु है । सेवा करके थके हुए साधु-संतोंकी नींद एक योग ही है । इस प्रकारकी शांत और गहरी नींद परम भाग्यवानोंकी ही मिलती है । नींद गहरी, गाढ़ी होनी चाहिए । नींदका महत्त्व लम्बाई-चौड़ाईपर नहीं है । बिछौना कितना लम्बा था और उसपर मनुष्य कितनी देर पड़ा रहा; इस बातपर नींद अवलंबित नहीं है । कुआँ जितना गहरा होगा, उतना ही उसका पानी अधिक साफ और मीठा होगा । उसी तरह नींद चाहे थोड़ी हो, पर यदि गहरी हो, तो उससे बड़ा काम बनता है । मन लगाकर किया आधा घंटा अध्ययन, चंचलतासे किये गये तीन घंटेके अध्ययनसे ज्यादा फलदायी होता है । यही बात नींदकी है । लम्बी नींद अन्तमें हितकर ही होती है, ऐसा नहीं कह सकते । बीमार चौबीसों घंटे बिस्तरपर पड़ा रहता है । बिस्तरकी ओर उसकी लगातार भेट है; लेकिन नींदसे भेट ही नहीं । सच्ची नींद वह, जो गहरी और निःस्वप्न हो । मरनेपर यम-यातना जो कुछ होती हो सो हो, परन्तु जिसे नींद अच्छी नहीं आती, दुःस्वप्न आते रहते हैं, उसकी यातनाका हाल मत पूछिये । वेदमें ऋषि त्रस्त होकर कहते हैं—

परा दुःस्वप्न्यं सुख ।

‘ऐसी दुष्ट नींद मुझे नहीं चाहिए, नहीं चाहिए ।’ नींद आरामके लिए होती है, परन्तु यदि उसमें भी तरह-तरहके स्वप्न और विचार पिंड न छोड़ते हों, तो आराम कहाँ ?

१०. तो, गहरी और गाढ़ी नींद आये कैसे ? जो उपाय आलस्यके लिए बताया है, वही नींदके लिए भी है । शरीरसे सतत काम लेते रहना चाहिए । फिर बिछौनेपर जाते ही मनुष्य मुर्देकी तरह पड़ेगा । नींद एक छोटी-सी मृत्यु ही है । ऐसी सुन्दर मृत्यु आनेके लिए दिनमें पूर्व तैयारी अच्छी होनी चाहिए । शरीर थककर चूर हो जाना चाहिए । अंग्रेज कवि

शेक्सपियरने कहा है—“राजाके सिरपर तो मुकुट है, परन्तु सिरमें चिंता है !” राजाको नींद नहीं आती । उसका एक कारण यह है कि वह शारीरिक श्रम नहीं करता । जागनेके समय जो सोता है, वह सोनेके समय जागता रहेगा । दिनमें बुद्धि और शरीरका उपयोग न करना नींद नहीं तो क्या है ? फिर नींदके समय बुद्धि विचार करती फिरती है और शरीर भी वास्तविक निद्रा-सुख नहीं पाता । तब देरतक सोते पड़े रहते हैं । जिस जीवनमें परम पुरुषार्थ साधना है, उसे यदि नींदने खा डाला, तो पुरुषार्थ कब किया जायगा ? आधा जीवन यदि नींदमें ही चला गया, तो फिर क्या प्राप्त कर सकेंगे ?

११. जब बहुत-सा समय नींदमें ही चला जाता है, तो फिर तमो-गुणका तीसरा दोष—‘प्रमाद’ सहज ही होने लगता है । निद्रालु मनुष्यका चित्त दक्ष और सावधान नहीं रह सकता । उससे अनवधान उत्पन्न होता है । अधिक नींदसे फिर आलस्य बढ़ता है और आलस्यसे विस्मृति । विस्मृति परमार्थके लिए नाशक हो जाती है । व्यवहारमें भी विस्मृतिसे हानि होती है; परन्तु हमारे समाजमें तो विस्मृति एक स्वाभाविक बात बन बैठी है । विस्मृति कोई बड़ा दोष है, ऐसा किसीको लगता ही नहीं । किसीसे भेट करना निश्चित करते हैं, परन्तु समयपर जाते नहीं । पूछनेपर कहते हैं—“अरे भाई, मैं तो भूल ही गया ।” कहनेवालेको भी कोई बड़ी भूल हो गयी है, ऐसा नहीं लगता और सुननेवाला भी सन्तुष्ट हो जाता है । विस्मरणका कोई इलाज ही नहीं है, ऐसा लोगोंका खयाल बना हुआ-सा दीखता है; परन्तु यह गफलत परमार्थमें भी हानिकर है और सांसारिक जीवनमें भी । वास्तवमें विस्मरण एक बड़ा रोग है । उससे बुद्धिमें घुन लग जाता है । जीवन खोखला हो जाता है ।

१२. मनका आलस्य विस्मरणका कारण है । मन यदि जागृत रहे, तो वह भूलेगा नहीं । लेटे रहनेवाले मनको विस्मरणरूपी बीमारी हुए बिना नहीं रहती । इसीलिए भगवान् बुद्ध कहते हैं—

प्रमादो मच्चुनो पदम् ।

—‘प्रमाद, विस्मरण, मृत्यु ही है ।’ इस प्रमादपर विजय पानेके

लिए आलस्य और निद्राको जीतिये। शरीर-श्रम कीजिये और सतत सावधान रहिये। जो-जो काम करिये, विचारपूर्वक करिये। यों ही बिना विचारे कोई काम नहीं होना चाहिए। कृतिके पहले विचार, बादमें भी विचार। आगे-पीछे सर्वत्र विचाररूपी परमेश्वर खड़ा रहना चाहिए। जब ऐसी आदत डाल लें तो फिर अनवधानरूपी रोग दूर हो जायगा। सारे समयको ठीक तौरसे बाँधे रखिये। एक-एक क्षणका हिसाब रखिये, तो फिर आलस्यको घुसनेकी जगह नहीं रहेगी। इस रीतिसे सारे तमोगुणको जीतनेका प्रयत्न करना चाहिए।

७८. रजोगुण और उसका उपाय स्वधर्म-मर्यादा

१३. इसके उपरान्त रजोगुणसे मोर्चा लेना है। रजोगुण भी एक भयानक शत्रु है। तमोगुणका ही दूसरा पहलू है, बल्कि यही कहना चाहिए कि दोनों पर्यायवाची शब्द हैं। जब शरीर बहुत सो चुकता है, तो वह हलचल करने लगता है और जब शरीर बहुत दौड़-धूप कर चुकता है, तब बिस्तरपर पड़ना चाहता है। तमोगुणसे रजोगुणकी, और रजोगुणसे तमोगुणकी प्राप्ति होती है। जहाँ एक है, वहाँ दूसरा आया ही समझिये। जिस तरह रोटी आग और गरम राखके बीच फँस जाती है, उसी तरह मनुष्यके आगे-पीछे ये रजोगुण-तमोगुण लगे ही रहते हैं। रजोगुण कहता है—“इधर आ, तुझे तमोगुणकी तरफ उड़ाऊँ।” तमोगुण कहता है—“मेरी तरफ आ, तुझे रजोगुणकी ओर फेंकूँ।” इस प्रकार ये रजोगुण और तमोगुण परस्पर सहायक होकर मनुष्यका नाश कर डालते हैं। फुटबॉलका जन्म जैसे ठोकरें खानेके लिए है, वैसे ही मनुष्यका जीवन रजोगुणकी और तमोगुणकी ठोकरें खानेमें ही बीतता है।

१४. रजोगुणका प्रधान लक्षण है—नाना प्रकारके काम करनेकी लालसा, प्रचण्ड कर्म करनेकी अपार आसक्ति। रजोगुणके द्वारा अपरम्पार कर्म-संग लागू होता है। लोभात्मक कर्मासक्ति उत्पन्न होती है। फिर वासना-विकारोंका वेग सँभलने नहीं पाता। इधरका पहाड़ उठाकर उधरका खड्डा भर डालनेकी इच्छा होती है। समुद्रमें मिट्टी डालकर

उसे पाटने और उधर सहाराके रेगिस्तानमें पानी भरकर समुद्र बनानेकी प्रेरणा होती है। इधर स्वेज नहर खोदूँ, उधर पनामा नहर बनाऊँ, ऐसी उधेड़-बुन शुरू होती है। जोड़-तोड़के सिवा चैन नहीं पड़ता। छोटा बच्चा जैसे कपड़ेकी धज्जीको लेकर उसे फाड़ता है, फिर कुछ बनाता है, ऐसी ही यह क्रिया है। इसमें यह मिलाओ, उसमें वह डुबाओ, उसे यों उड़ाओ, इसे यों बनाओ—ऐसे ही अनन्त खेल रजोगुणके होते हैं। पक्षी आकाशमें उड़ता है, हम भी आकाशमें क्यों न उड़ें? मछली पानीमें रहती है, हम भी पनडुब्बी बनाकर जलमें क्यों न रहें? इस तरह, नर-देहमें आकर पक्षियों और मछलियोंकी बराबरी करनेमें हमें कृतार्थता मालूम होती है। परकाया-प्रवेशकी तथा दूसरी देहोंके आश्चर्योंका अनुभव करनेकी हविस उसे नर-देहमें सूझती है। कोई कहता है—“चलो, मंगलकी सैर कर आयें और वहाँकी आबादी देख आयें।” चित्त सतत भ्रमण करता रहता है, मानो अनेक वासनाओंका भूत ही हमारे शरीरमें बैठ गया है। जो जहाँ है, वह वहाँ देखा ही नहीं जाता। उथल-पुथल होनी चाहिए। उसे लगता है—मैं इतना बड़ा मनुष्य-जीव, मेरे जीवित रहते यह सृष्टि जैसी-की-तैसी कैसे रहे? किसी पहलवानके शरीरमें मस्ती चढ़ती है। उसे उतारनेके लिए वह कभी दीवारसे टक्कर लेता है, तो कभी पेड़को धक्का मारता है। रजोगुणकी ऐसी ही उमंगें होती हैं। इनके प्रभावमें आकर मनुष्य धरतीको गहरी खोदता है; उसके पेटमेंसे कुछ पत्थर निकालता है और उन्हें वह हीरा, माणिक, जवाहर नाम देता है। इसी तरह उमंगके वशीभूत होकर वह समुद्रमें गोता लगाता है और उसकी तलीका कूड़ा-करकट ऊपर लाकर उसे ‘मोती’ नाम देता है। मोतीमें छेद नहीं होता, अतः उसमें छेद करता है। अब ये मोती पहने कहाँ? तो सुनारसे नाक-कान छिदवाता है। मनुष्य यह सब उखाड़-पछाड़ क्यों करता है? यह सारा रजोगुणका प्रभाव है।

✓ १५. रजोगुणका दूसरा परिणाम यह होता है कि मनुष्यमें स्थिरता नहीं रहती। रजोगुण तत्काल फल चाहता है। अतः जरा-सी विघ्नबाधा आते ही वह अंगीकृत मार्ग छोड़ देता है। रजोगुणी मनुष्य सतत इसे ले,

उसे छोड़, ऐसा करता रहता है। उसका चुनाव रोज बदलता रहता है। इसका परिणाम यही होता है कि अन्तमें पल्ले कुछ भी नहीं पड़ता।

राजसं चलमध्रुवम् ।

रजोगुणकी सारी कृति चंचल और अनिश्चित रहती है। छोटे बच्चे गेहूँ बोते हैं और तुरन्त खोदकर देखते हैं। वैसा ही हाल रजोगुणी मनुष्यका होता है। झटपट सब-कुछ उसके पल्ले पड़ना चाहिए। वह अधीर हो उठता है। संयम खो देता है। एक जगह पाँव जमाना वह जानता ही नहीं। यहाँ जरा-सा काम किया, वहाँ कुछ प्रसिद्धि हुई कि चला दूसरी जगह। आज मद्रासमें मानपत्र, कल कलकत्तेमें और परसों बम्बई-नागपुरमें ! सभी म्युनिसिपैलिटियोंसे मानपत्र पानेकी उसे लालसा रहती है। मान-ही-मान उसे सब जगह दोखता है। एक जगह जमकर काम करनेकी उसे आदत ही नहीं होती। इससे रजोगुणी मनुष्यकी स्थिति बड़ी भयानक होती है।

१६. रजोगुणके प्रभावसे मनुष्य विविध धंधों, कार्योंमें टाँग अड़ाता रहता है। उसका स्वधर्म नहीं रहता। वास्तविक स्वधर्माचरणका अर्थ है, अन्य बहुतेरे कार्योंका त्याग। गीताका कर्मयोग रजोगुणका रामबाण उपाय है। रजोगुणमें सब कुछ चंचल है। पर्वतके शिखरपरसे गिरनेवाला पानी यदि विविध दिशाओंमें बहने लगे, तो फिर वह कहींका नहीं रहता। सारा-का-सारा बिखरकर बेकार हो जाता है। परन्तु वही यदि एक दिशामें बहेगा, तो आगे चलकर उसकी एक नदी बन जायगी। उसमेंसे शक्ति उत्पन्न होगी। देशको उससे लाभ पहुँचेगा। इसी तरह मनुष्य यदि अपनी शक्ति विविध उद्योगोंमें न लगाकर उसे एकत्र करके एक ही कार्यमें सुव्यवस्थित रूपसे लगाये, तो उसके हाथसे कुछ कार्य हो सकेगा। इसलिए स्वधर्मका महत्त्व है।

स्वधर्मका सतत चिन्तन करके उसीमें सारी शक्ति लगानी चाहिए। दूसरी बातकी ओर ध्यान ही न जाने पाये। यही स्वधर्मकी कसौटी है। कर्मयोग यानी कोई बड़ा अथवा विलक्षण कर्म नहीं है। बहुत सारा कर्म करना भी कर्मयोग नहीं है। गीताका कर्मयोग कुछ और ही चीज

है। उसकी विशेषता यह है—फलकी ओर ध्यान न देते हुए केवल स्वभाव-प्राप्त अपरिहार्य स्वधर्मका पालन करना और उसके द्वारा चित्त-शुद्धि करते रहना, नहीं तो यों सृष्टिमें सतत कर्म-कलाप होता ही रहता है। कर्मयोगका अर्थ है, विशिष्ट मनोवृत्तिसे समस्त कर्म करना। खेतमें बीज बोना और यों ही मुट्ठीभर अनाज लेकर कहीं फेंक देना—दोनों सर्वथा भिन्न बातें हैं। दोनोंमें बड़ा अन्तर है। हम देखते ही हैं कि अनाज बोनेसे कितना फल मिलता है और यों ही उसे फेंक देनेसे कितना नुकसान होता है। गीता जिस कर्मका उपदेश देती है, वह बुआईकी तरह है। ऐसे स्वधर्मरूप कर्तव्यमें असीम शक्ति रहती है। वहाँ सभी परिश्रम अधूरे पड़ते हैं। अतः उसमें भारी दौड़-धूपके लिए कोई अवसर ही नहीं रहता।

७९. स्वधर्मका निश्चय कैसे करें ?

१७. 'यह स्वधर्म निश्चित कैसे किया जाय ?'—ऐसा कोई प्रश्न करे, तो उसका सरल उत्तर है—'वह स्वाभाविक होता है।' स्वधर्म सहज होता है। उसे खोजनेकी कल्पना ही विचित्र मालूम होती है। मनुष्यके जन्मके साथ ही उसका स्वधर्म भी जनमा है। बच्चेके लिए जैसे उसकी माँ खोजनी नहीं पड़ती, वैसे ही स्वधर्म भी किसीको खोजना नहीं पड़ता। वह तो पहलेसे ही प्राप्त है। हमारे जन्मके पहले भी दुनिया थी, हमारे बाद भी वह रहेगी। हमारे पीछे भी एक बड़ा प्रवाह था और आगे भी वह है ही—ऐसे प्रवाहमें हमारा जन्म हुआ है। जिन माँ-बापके यहाँ मैंने जन्म लिया है, उनकी सेवा, जिन पास-पड़ोसियोंके बीच जनमा हूँ, उनकी सेवा—ये कर्म मुझे निसर्गतः ही मिले हैं। फिर मेरी वृत्तियाँ तो मेरे नित्य अनुभवकी ही हैं न ? मुझे भूख लगती है, प्यास लगती है; अतः भूखको भोजन देना, प्यासेको पानी पिलाना, यह धर्म मुझे सहज ही प्राप्त हो गया। इस प्रकार यह सेवारूप, भूतदयारूप स्वधर्म हमें खोजना नहीं पड़ता। जहाँ कहीं स्वधर्मकी खोज हो रही हो, वहाँ निश्चित समझ लेना चाहिए कि कुछ-न-कुछ परधर्म अथवा अधर्म हो रहा है।

सेवकको सेवा खोजने कहीं जाना नहीं पड़ता। वह अपने-आप उसके पास आ जाती है। परन्तु एक बात ध्यानमें रखनी चाहिए कि जो अनायास प्राप्त हो, वह सदा धर्म्य ही होता हो, ऐसी बात नहीं है। कोई किसान रातको मुझे कहे—“चलो, वह बाड़ चार-पाँच हाथ आगे हटा दें। मेरा खेत बढ़ जायगा। अभी कोई है नहीं, बिना शोरगुलके सब काम हो जायगा!” यद्यपि यह काम मुझे अपना पड़ोसी बता रहा है और यह सहज प्राप्त भी दीखता है, तो भी इसमें असत्यका आश्रय होनेके कारण यह मेरा कर्तव्य नहीं ठहरता।

१८. चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था जो मुझे अच्छी लगती है, उसका कारण यही है कि उसमें स्वाभाविकता और धर्म, दोनों हैं। इस स्वधर्मको छोड़नेसे काम नहीं चल सकता। जो माँ-बाप मुझे प्राप्त हुए हैं, वे ही मेरे माँ-बाप रहेंगे। यदि मैं कहूँ कि वे मुझे पसन्द नहीं हैं, तो कैसे काम चलेगा? माता-पिताका व्यवसाय स्वभावतः ही लड़केको विरासतमें मिलता है। जो व्यवसाय वंश-परम्परासे चला आया है, वह यदि नीति-विरुद्ध न हो, तो उसीको करना, उसी उद्योगको आगे चलाना चातुर्वर्ण्यकी एक बड़ी विशेषता है। यह वर्ण-व्यवस्था आज अस्तव्यस्त हो गयी है। उसका पालन आज बहुत कठिन हो गया है, परन्तु यदि वह फिरसे सुव्यवस्थित स्थापित की जा सके, तो बहुत अच्छा होगा। आज शुरूके पचीस-तीस साल तो नये धंधे सीखनेमें ही चले जाते हैं। काम सीख लेनेपर फिर मनुष्य अपने लिए सेवा-क्षेत्र, कार्य-क्षेत्र खोजता है। इस तरह शुरूके पचीस साल तो वह सीखता ही रहता है। इस शिक्षाका उसके जीवनसे कोई सम्बन्ध नहीं रहता। कहते हैं, वह भावी जीवनकी तैयारी कर रहा है। शिक्षा प्राप्त करते समय मानो वह जीता ही न हो। जीना बादमें है। कहते हैं, पहले सब सीखना और बादमें जीना। मानो जीना और सीखना, ये दोनों चीजें अलग-अलग कर दी गयी हों। जिसका जीने-के साथ सम्बन्ध नहीं, उसे मरना ही तो कहेंगे! हिन्दुस्तानकी औसत उम्र तेईस साल है और पचीस सालतक तो वह तैयारी ही करता रहता है। इस तरह नया काम-धंधा सीखनेमें ही दिन चले जाते हैं, तब नया

काम-धंधा शुरू होता है। इससे उमंग और महत्त्वके वर्ष व्यर्थ चले जाते हैं। जो उत्साह, जो उमंग जनसेवामें खर्च करके जीवन सार्थक किया जा सकता है, वह यों ही व्यर्थ चला जाता है। जीवन कोई खेल नहीं है। पर दुःखकी बात है कि जीवनका पहला अमूल्य अंश तो जीवनका काम-धंधा खोजनेमें ही चला जाता है। हिंदू-धर्मने इसीलिए वर्ण-धर्मकी युक्ति निकाली है।

१९. चातुर्वर्ण्य-व्यवस्थाको एक ओर रख दें, तो भी सभी राष्ट्रोंमें सर्वत्र, जहाँ यह व्यवस्था नहीं है वहाँ भी, स्वधर्म सबको प्राप्त ही है। हम सब इस प्रवाहमें किसी एक परिस्थितिको साथ लेकर जनमे हैं, इसीलिए स्वधर्माचरणरूपी कर्तव्य स्वतः ही हमें प्राप्त रहता है। अतः जो दूरवर्ती कर्तव्य हैं—जिन्हें वास्तवमें कर्तव्य कहना ठीक नहीं—वे कितने ही अच्छे दिखाई देनेपर भी ग्रहण न करने चाहिए। बहुत बार दूरके ढोल सुनावने लगते हैं। मनुष्य दूरकी बातोंपर लट्टू हो जाता है। मनुष्य जहाँ खड़ा है, वहाँ भी गहरा कुहरा फैला रहता है; परन्तु पासका घना कुहरा उसे नहीं दीखता। वह दूर अँगुली दिखाकर कहता है—“वहाँ बड़ा कुहरा फैला है।” उधरका मनुष्य इसकी ओर अँगुली बताकर कहता है—“उधर घना कुहरा है।” कुहरा सब जगह है, परन्तु पासका दिखाई नहीं देता। मनुष्यको दूरका आकर्षण रहता है। निकटका कोनेमें पड़ा रहता है और दूरका स्वप्नमें दीखता है। परन्तु यह मोह है। इसे छोड़ना ही चाहिए। प्राप्त स्वधर्म यदि साधारण हो, अपर्याप्त हो, नीरस लगता हो, तो भी जो मुझे प्राप्त है, वही अच्छा है। वही मेरे लिए सुन्दर है। जो मनुष्य समुद्रमें डूब रहा हो, उसे कोई टेढ़ा-मेढ़ा और भद्दा-सा लकड़ीका टुकड़ा मिले, पॉलिश किया हुआ चिकना और सुन्दर न मिले, तो भी वही तारनेवाला है। बढईके कारखानेमें बहुतसे बढ़िया चिकने और बेल-बूटेदार टुकड़े पड़े होंगे, परन्तु वे तो हैं कारखानेमें और वह यहाँ समुद्रमें डूब रहा है! अतएव वह बेढंगा लकड़ीका टुकड़ा ही उसका तारक है, उसीको उसे पकड़ लेना चाहिए। इसी तरह जो सेवा मुझे प्राप्त हो गयी है, वह गौण मालूम होनेपर भी

मेरे कामकी है। उसीमें मग्न हो जाना मुझे शोभा देता है। उसीमें मेरा उद्धार है। यदि मैं दूसरी सेवा खोजनेके चक्करमें पड़ूँगा, तो पहली सेवा भी जायगी और दूसरी भी। इससे मनुष्य सेवा-वृत्तिसे दूर भटक जाता है। अतः स्वधर्मरूप कर्तव्यमें ही मग्न रहना चाहिए।

२०. जब हम स्वधर्ममें मग्न रहने लगते हैं, तो रजोगुण फीका पड़ जाता है, क्योंकि तब चित्त एकाग्र होता है। वह स्वधर्म छोड़कर कहीं जाता ही नहीं, इससे चंचल रजोगुणका सारा जोर ही ढीला पड़ जाता है। नदी जब शान्त और गहरी होती है, तो कितना ही पानी उसमें बढ़ आये, तो भी वह उसे अपने पेटमें समा लेती है। इसी तरह स्वधर्मरूपी नदी मनुष्यका सारा बल, सारा वेग, सारी शक्ति अपने भीतर समा ले सकती है। स्वधर्ममें जितनी शक्ति लगाओगे, उतनी कम ही है। स्वधर्म-में आप शक्ति-सर्वस्व लगा देंगे, तो फिर रजोगुणकी दौड़-धूपवाली वृत्ति समाप्त हो जायगी। मानो चंचलताका डंक ही कुचल दिया। यह रीति है रजोगुणको जीतनेकी।

८०. सत्त्वगुण और उसका उपाय

२१. अब रहा सत्त्वगुण। इससे बहुत सँभलकर रहना चाहिए। इससे आत्माको अलग कैसे करें? बड़े सूक्ष्म विचारकी यह बात है। सत्त्वगुणको पूर्णतः निर्मूल नहीं करना है। रज-तमका तो पूर्ण उच्छेद ही करना पड़ता है। परंतु सत्त्वगुणकी भूमिका कुछ अलग है। जब बहुत भीड़ इकट्ठी हो गयी हो और उसे तितर-बितर करना हो, तो सिपाहियोंको हुक्म दिया जाता है कि कमरके ऊपर नहीं, पाँवकी तरफ गोलियाँ चलाओ। इससे मनुष्य मरता नहीं, घायल हो जाता है। इसी तरह सत्त्वगुणको घायल कर देना है, मार नहीं डालना है। रजोगुण और तमोगुणके चले जानेपर शुद्ध सत्त्वगुण रह जाता है। जबतक हमारा शरीर कायम है, तबतक हमें किसी-न-किसी भूमिकामें रहना ही पड़ेगा। तो फिर रज-तमके चले जानेपर जो सत्त्वगुण रहेगा, उससे अलग रहनेका अर्थ क्या है?

जब सत्त्वगुणका अभिमान हो जाता है, तब वह आत्माको अपने

शुद्ध स्वरूपसे नीचे खींच लाता है। लालटेनका प्रकाश स्वच्छ रूपमें बाहर फैलाना हो तो उसके अन्दरका सारा काजल पोंछ ही देना पड़ता है। यदि काँचपर धूल जम गयी हो, तो वह भी धो डालनी पड़ती है। इसी तरह आत्माको प्रभाके आसपास जो तमोगुणरूपी काजल जमा रहता है, उसे अच्छी तरह दूर करना ही चाहिए। उसके बाद रजोगुणरूपी धूलको भी साफ कर देना है। इस तरह जब तमोगुण धो डाला, रजोगुणको साफ कर डाला, तो अब सत्त्वगुणरूपी काँच बाकी रह गया। इस सत्त्वगुणको भी दूर करनेका अर्थ क्या यह है कि हम काँचको भी फोड़ डालें ? नहीं। यदि काँच ही फोड़ डालेंगे तो फिर प्रकाशका कार्य नहीं होगा। ज्योतिका प्रकाश फैलानेके लिए काँच तो चाहिए ही। अतः इस शुद्ध चमकदार काँचको फोड़ें तो नहीं, परन्तु एक ऐसा छोटा-सा कागजका टुकड़ा उसके सामने जरूर लगा दें, जिससे आँखें चकाचौंध न हो जायँ। जरूरत सिर्फ आँखोंको चकाचौंध न होने देनेकी है। सत्त्वगुणपर विजय पानेका अर्थ यह है कि उसके प्रति हमारा अभिमान, हमारी आसक्ति हट जाय। सत्त्वगुणसे काम तो लेना है, परन्तु सावधानीसे और युक्तिसे। सत्त्वगुणको निरहंकारी बना देना चाहिए।

२२. इस सत्त्वगुणके अहंकारको जीता कैसे जाय ? इसका एक उपाय है : सत्त्वगुणको हम अपने अन्दर स्थिर कर लें। सातत्यसे उसका अभिमान चला जाता है। सत्त्वगुणयुक्त कर्मोंको ही हम सतत करते रहें। उसे अपना स्वभाव ही बना लें। सत्त्वगुण हमारे यहाँ घड़ीभरके लिए आया हुआ मेहमान ही न रहे, बल्कि वह घरका आदमी बन जाय। जो क्रिया कभी-कभी हमसे होती है, उसका हमें अभिमान होता है। हम रोज सोते हैं, परन्तु उसको दूसरोंसे कहते नहीं फिरते। लेकिन किसी बीमारको पंद्रह दिन नींद न आयी हो और फिर जरा-सी नींद आ जाय, तो वह सबसे कहता है—“कल तो भाई थोड़ी नींद आयी।” उसे वह बात महत्त्वपूर्ण मालूम होती है। इससे भी अच्छा उदाहरण हम स्वासोच्छ्वास-क्रियाका ले सकते हैं। साँस हम चौबीसों घंटे लेते हैं, परन्तु हर किसीसे उसका जिक्र नहीं करते। कोई यह डींग नहीं मारता कि “मैं

एक साँस लेनेवाला प्राणी हूँ।” हरद्वारसे गंगामें फेंका तिनका यदि बहता-बहता डेढ़ हजार मील दूर कलकत्तामें पहुँच जाय, तो क्या वह उसपर गर्व करेगा ? वह तो धाराके साथ सहज-रूपसे बहता चला आया। परन्तु यदि कोई बाढ़की उलटी धारामें दस-बीस हाथ तैर आया, तो वह कितनी शेखी बघारेगा ! सारांश यह कि जो बात स्वाभाविक है, उसका हमें अहंकार नहीं होता।

२३. कोई अच्छा काम हमारे हाथसे हो जाता है, तो हमें उसका अभिमान मालूम होता है। क्यों ? इसलिए कि वह बात सहज-रूपसे नहीं हुई। मुन्नाके हाथसे कोई काम अच्छा हो जाय, तो माँ उसकी पीठपर हाथ फेरती है। वरना यों तो माँकी छड़ीसे ही हमेशा उसकी पीठकी भेट होती है। रातके घने अंधकारमें एकआध जुगनू हो, तो फिर देखिये उसकी ऐंठ ! वह एकबारगी अपनी सारी चमक नहीं दिखाता। बीचमें लुक-लुक करता है, फिर रुकता है, फिर लुक-लुक करता है। वह प्रकाशकी आँखमिचौनी खेलता है। परन्तु उसका प्रकाश यदि सतत रहने लगे, तो फिर उसकी ऐंठ नहीं रहेगी। सातत्यके कारण विशेषता मालूम नहीं होती। इस तरह सत्त्वगुण यदि हमारी क्रियाओंमें सतत प्रकट होने लगे, तो फिर वह हमारा स्वभाव ही हो जायगा। सिंहको अपने शौर्यका अभिमान नहीं रहता, उसे उसका भान भी नहीं रहता। इसी तरह अपनी सात्त्विक वृत्तिको इतनी सहज हो जाने दो कि हम सात्त्विक हैं, इसकी स्मृति भी हमें न होने पाये। प्रकाश देना सूर्यकी नैसर्गिक क्रिया है। उसका सूर्यको कोई अभिमान नहीं रहता। उसके लिए यदि कोई सूर्यको मान-पत्र देने जाय, तो वह कहेगा—“इसमें मैंने विशेष क्या किया ? मैं प्रकाश देता हूँ, तो अधिक क्या करता हूँ ? प्रकाश देना ही तो मेरा जीवन है। प्रकाश न दूँ, तो मैं मर जाऊँगा। मैं दूसरी कोई चीज ही नहीं जानता।” ऐसी ही स्थिति सात्त्विक मनुष्यकी हो जानी चाहिए। सत्त्वगुणका ऐसा स्वभाव ही बन जाय, तो हमें उसका अभिमान न होगा। सत्त्वगुणको निस्तेज करनेकी, उसे जीतनेकी यह एक युक्ति हुई।

२४. दूसरी युक्ति है, सत्त्वगुणकी आसक्ति भी छोड़ देना। अहंकार

और आसक्ति, ये दो भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं। यह भेद जरा सूक्ष्म है। दृष्टांतसे जल्दी समझमें आ जायगा। सत्त्वगुणका अहङ्कार चला जानेपर भी आसक्ति रह जाती है। स्वासोच्छ्वासका ही उदाहरण लें। साँस लेनेका अभिमान तो नहीं होता, परन्तु उसमें बड़ी आसक्ति रहती है। यदि कहो कि पाँच मिनटतक साँस रोके रहो, तो नहीं बनता। नाकको स्वासोच्छ्वासका अभिमान भले ही न हो, परन्तु वह हवा बराबर लेती रहती है। सुकरातकी एक मजेदार कहानी है। उसकी नाक थो चपटी। अतः लोग उसे देखकर हँसा करते। परन्तु हँसोड़ सुकरात कहता— 'मेरी ही नाक सुन्दर है। जिस नाकके नासापुट बड़े हों, वह भरपूर हवा ले सकती है और इसलिए वही सबसे सुन्दर है।' तात्पर्य यह कि नाकको स्वासोच्छ्वासका अभिमान तो नहीं, पर आसक्ति है। सत्त्वगुणके प्रति इसी तरह आसक्ति हो जाती है। जैसे भूत-दया। यह गुण अत्यन्त उपयोगी है, परन्तु उसकी आसक्तिसे दूर रह सकें, ऐसा सधना चाहिए। भूत-दया आवश्यक है, परन्तु उसकी आसक्ति न होनी चाहिए।

संत लोग इस सत्त्वगुणकी ही बदौलत दूसरोंके मार्गदर्शक बनते हैं। उनकी देह भूत-दयाके कारण सार्वजनिक हो जाती है। मक्खियाँ जिस प्रकार गुड़की भेलीको ढाँक लेती हैं, उसी प्रकार सारी दुनिया संतोंपर अपने प्रेमकी चादर ओढ़ाती है। संतोंके अन्दर प्रेमका इतना प्रकर्ष हो जाता है कि सारा विश्व उनसे प्रेम करने लगता है। संत अपनी देहकी आसक्ति छोड़ देते हैं, अतः सारे संसारकी आसक्ति उनपर हो जाती है। सारी दुनिया उनके शरीरकी चिन्ता करने लगती है। परन्तु यह आसक्ति भी संतोंको दूर करनी चाहिए। यह जो संसारका प्रेम है, यह महान् फल है, उससे भी आत्माको पृथक् करना चाहिए। मैं कोई विशेष व्यक्ति हूँ— ऐसा उन्हें कभी न लगना चाहिए। इस तरह सत्त्वगुणको शरीरमें पचा डालना चाहिए।

२५. पहले अहंकारको जीतो, फिर आसक्तिको। सातत्यसे अहंकार जीत सकते हैं। फलासक्तिको छोड़कर सत्त्वगुणसे प्राप्त फलको भी ईश्वरार्पण करनेसे आसक्तिपर विजय प्राप्त की जा सकती है। जीवनमें

सत्त्वगुण स्थिर हो जाता है, तब कभी सिद्धिके रूपमें या कभी कीर्तिके रूपमें फल सामने आता है। परन्तु उस फलको भी तुच्छ मानिये। आमका पेड़ अपना एक भी फल खुद नहीं खाता। फल कितना ही बढ़िया हो, कितना ही मीठा हो, कितना ही रसीला हो, पर खानेकी अपेक्षा न खाना ही उसे मधुरतर लगता है। उपभोगकी अपेक्षा त्याग अधिक मधुर है।

२६. धर्मराजने जीवनके सारे पुण्यके सारस्वरूप स्वर्ग-सुखरूपी फलको भी अन्तमें ठुकरा दिया। जीवनके सारे त्यागोंपर उन्होंने कलश चढ़ा दिया। उन मधुर फलोंको चखनेका उन्हें अधिकार था। परन्तु यदि वे उन्हें चख लेते तो सब स्वाहा हो जाता। 'क्षोणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति'—यह चक्र फिर उनके पीछे लग जाता। धर्मराजका कितना महान् यह त्याग ! यह सदैव मेरी आँखोंके सामने खड़ा रहता है। इस तरह सत्त्वगुणके सतत आचरणद्वारा उसके अहङ्कारको जीत लेना चाहिए। तटस्थ रहकर सब फल ईश्वरको सौंपकर उसकी आसक्तिसे छूट जाना चाहिए। तब कह सकते हैं कि सत्त्वगुणपर विजय प्राप्त हो गयी।

८१. अन्तिम बात : आत्मज्ञान और भक्तिका आश्रय

२७. अब अन्तिम बात ! भले ही आप सत्त्वगुणी हो जाइये, अहङ्कारको जीत लीजिये, फलासक्तिको भी छोड़ दीजिये; फिर भी जबतक यह शरीर चिपका है, तबतक बीच-बीचमें रज-तमके हमले होते ही रहेंगे। थोड़ी देरके लिए हमें ऐसा लगा भी कि हमने इन गुणोंको जीत लिया, तो भी वे फिर-फिर जोर मारेंगे। अतः सतत जागृत रहना चाहिए। समुद्रका पानी वेगसे भीतर घुसकर जिस तरह बड़ी खाड़ियाँ बना लेता है, उसी तरह रज-तमके जोरदार प्रवाह हमारी मनोभूमिमें प्रविष्ट होकर खाड़ियाँ बना लेते हैं। अतः जरा भी छिद्र न रहने दीजिये। पक्का इन्तजाम और पहरा रखिये। चाहे कितनी ही सावधानी, दक्षता रखिये, जबतक आत्मज्ञान नहीं हुआ है, आत्मदर्शन नहीं हो पाया है, तबतक खतरा ही समझिये। अतः जैसे भी हो, आत्मज्ञान प्राप्त कर लीजिये।

२८. आत्मज्ञान कोरी जागृतिकी कसरतसे नहीं होगा। तो फिर

कैसे होगा ? क्या अभ्याससे ? नहीं, उसका एक ही उपाय है। वह है—‘सच्चे हृदयसे, प्रेमपूर्वक भगवान्‌की भक्ति करना।’ आप रज और तम गुणोंको जीतेंगे, सत्त्वगुणको स्थिर करके उसकी फलासक्ति भी जीत लेंगे, परन्तु इतनेसे भी काम नहीं चलेगा। जबतक आत्मज्ञान नहीं हुआ है, तबतक काम चलनेवाला नहीं। अतः अन्तमं भगवत्कृपा चाहिए ही। सच्ची हार्दिक भक्तिके द्वारा उसकी कृपाका पात्र बनना चाहिए। इसके सिवा मुझे दूसरा उपाय नहीं दिखाई देता। इस अध्यायके अन्तमें अर्जुनने यही प्रश्न पूछा है और भगवान्‌ने उत्तर दिया है—“अत्यन्त एकाग्र मनसे निष्कामभावसे मेरी भक्ति करो, मेरी सेवा करो। जो इस प्रकार मेरी सेवा करता है, वह मायाके उस पार जा सकता है, नहीं तो इस गहन मायाको तरा नहीं जा सकता।” यह भक्तिका सरल उपाय है। उसके लिए यह एक ही मार्ग है।

रविवार, १२-५-३२

१५. पूर्णयोग : सर्वत्र पुरुषोत्तम-दर्शन

८२. प्रयत्न-मार्गसे भक्ति भिन्न नहीं

१. आज एक अर्थमें हम गीताके छोरपर आ पहुँचे हैं। पन्द्रहवें अध्यायमें सब विचारोंकी परिपूर्णता हो गयी है। सोलहवाँ और सत्रहवाँ अध्याय परिशिष्टरूप हैं, अठारहवाँ उपसंहार है। यही कारण है कि भगवान्‌ने इस अध्यायके अन्तमें ‘शास्त्र’ संज्ञा दी है।

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयाऽनघ ।

ऐसा अन्तमें भगवान्‌ने कहा है। यह इसलिए नहीं कि यह अंतिम अध्याय है; बल्कि इसलिए कि अबतक जीवनके जो शास्त्र, जो सिद्धान्त बताये, उनकी परिपूर्णता इस अध्यायमें की गयी है। इस अध्यायमें

परमार्थ पूरा हो गया। वेदोंका सम्पूर्ण सार इसमें आ गया। परमार्थकी चेतना मनुष्यमें उत्पन्न कर देना ही वेदोंका कार्य है। वह इस अध्यायमें किया गया है, अतः इसे 'वेदका सार' यह गौरवपूर्ण पदवी मिली है।

तेरहवें अध्यायमें हमने देहसे आत्माको अलग करनेकी आवश्यकता देखी। चौदहवेंमें तत्सम्बन्धी प्रयत्नवादकी थोड़ी छानबीन की। रजोगुण और तमोगुणका निग्रहपूर्वक त्याग करें, सत्त्वगुणका विकास करके उसकी आसक्तिको जीत लें, उसके फलका त्याग करें—इस तरह यह प्रयत्न करना है। अन्तमें कहा गया कि इन प्रयत्नोंके सोलहों आने सफल होनेके लिए आत्मज्ञानकी आवश्यकता है और बिना भक्तिके आत्मज्ञान संभव नहीं।

२. परन्तु भक्ति-मार्ग प्रयत्न-मार्गसे भिन्न नहीं है। यही सूचित करनेके लिए इस पन्द्रहवें अध्यायके आरम्भमें ही संसारको एक महान् वृक्षकी उपमा दी गयी है। इस वृक्षमें त्रिगुणोंसे पोषित प्रचंड शाखाएँ फूटी हैं। आरम्भमें ही यह कह दिया है कि अनासक्ति और वैराग्यरूपी शस्त्रोंसे इस वृक्षको काटना चाहिए। स्पष्ट है कि पिछले अध्यायमें जो साधनमार्ग बताया गया है, वही फिर यहाँ आरंभमें दुहराया गया है। रज-तमको मिटाना और सत्त्वगुणकी पुष्टिद्वारा अपना विकास कर लेना है। एक विनाशक है, दूसरा विधायक। दोनोंको मिलाकर मार्ग एक ही होता है। घास-फूस काटना और बीज बोना—दोनों एक ही क्रियाके दो अंग हैं। वैसे ही यह बात है।

✓ ३. रामायणमें रावण, कुंभकर्ण और विभीषण, ये तीन भाई हैं। कुंभकर्ण तमोगुण है, रावण रजोगुण है, विभीषण सत्त्वगुण है। हमारे शरीरमें इन तीनोंकी रामायण रची जा रही है। इस रामायणमें रावण और कुंभकर्णका तो नाश ही विहित है। रहा केवल विभीषण-तत्त्व। यदि वह हरिचरण-शरण हो जाय, तो उन्नतिका साधक और पोषक हो सकेगा। इसलिए वह अपनाने जैसा है। हमने चौदहवें अध्यायमें इस चीजको समझ लिया है। इस पंद्रहवें अध्यायके आरंभमें फिर वही बात आयी है। सत्त्व-रज-तमसे भरे संसारको असंग्रही शस्त्रसे छेद डालो। रज-तमका निरोध करो। सत्त्वगुणका विकास करके पवित्र बनो और उसकी आसक्ति-

को जीतकर अलिप्त रहो। कमलका यह आदर्श भगवद्गीता प्रस्तुत कर रही है।

४. भारतीय संस्कृतिमें जीवनकी आदर्श वस्तुओंको, उत्तमोत्तम वस्तुओंको कमलकी उपमा दी गयी है। कमल भारतीय संस्कृतिका प्रतीक है। उत्तमोत्तम विचार प्रकट करनेका चिह्न कमल है। कमल स्वच्छ और पवित्र होकर भी अलिप्त रहता है। पवित्रता और अलिप्तता, ऐसी दुहरी शक्ति कमलमें है। भगवान्‌के भिन्न-भिन्न अवयवोंको कमलकी उपमा देते हैं। नेत्र-कमल, पद-कमल, कर-कमल, मुख-कमल, नाभि-कमल, हृदय-कमल, शिर-कमल आदि उपमाओंके द्वारा यह भाव हमारे मनमें बैठा दिया है कि सर्वत्र सौंदर्य और पावित्र्यके साथ ही अलिप्तता है।

५. पिछले अध्यायमें बतायी साधनाको पूर्णतापर पहुँचानेके लिए यह अध्याय लिखा गया है। प्रयत्नमें जब आत्म-ज्ञान और भक्ति मिल जाय, तो फिर पूर्णता आ जायगी। भक्ति प्रयत्न-मार्गका ही एक भाग है। आत्म-ज्ञान और भक्ति उसी साधनाके अंग हैं। वेदोंमें ऋषि कहते हैं—

यो जागार तं ऋचः कामयन्ते,
यो जागार तमु सामानि यन्ति।

‘जो जागृत रहता है, उससे वेद प्रेम करते हैं, उससे भेट करनेके लिए वे आते हैं।’ अर्थात् जो जागृत है, उसके पास वेदनारायण आते हैं। उसके पास ज्ञान आता है, भक्ति आती है। प्रयत्न-मार्गसे ज्ञान और भक्ति पृथक् नहीं हैं। इस अध्यायमें यही दिखाना है कि ये दोनों तत्त्व प्रयत्नमें ही मधुरता लानेवाले हैं। अतः एकाग्रचित्तसे भक्ति-ज्ञानका यह स्वरूप श्रवण कीजिये।

८३. भक्तिसे प्रयत्न सुकर होता है

६. मैं जीवनके टुकड़े नहीं कर सकता। कर्म, ज्ञान और भक्तिको मैं पृथक्-पृथक् नहीं कर सकता, न ये पृथक् हैं ही। उदाहरणके लिए इस जेलके रसोईके कामको ही देखिये। पाँच-सात सौ मनुष्योंकी रसोई बनाने-का काम अपनेमेंसे कुछ लोग करते हैं। यदि इनमें कोई ऐसा मनुष्य हो, जो रसोई बनानेका ठीक-ठीक ज्ञान न रखता हो, तो वह रसोई बिगाड़

देगा। रोटियाँ कच्ची रह जायँगी; या जल जायँगी। परन्तु यहाँ हम यह मानकर चलें कि रसोई बनानेका उत्तम ज्ञान है; फिर भी यदि उस व्यक्तिके हृदयमें उस कर्मके प्रति प्रेम न हो, भक्तिका भाव न हो, 'ये रोटियाँ मेरे भाइयोंको अर्थात् नारायणको ही मिलनेवाली हैं, इन्हें अच्छी तरह बेलना और सेंकना चाहिए, यह प्रभुकी सेवा है',—ऐसा भाव उसके हृदयमें न हो, तो पूर्वोक्त ज्ञान रहनेपर भी वह इस कामके लिए उपयुक्त नहीं सिद्ध होगा। इस रसोई-कामके लिए जैसे ज्ञान आवश्यक है, वैसे ही प्रेम भी। भक्ति-तत्त्वका रस हृदयमें न हो, तो रसोई स्वादिष्ट नहीं बन सकती। इसीलिए तो बिना माँके यह काम नहीं होता है। माँके सिवा कौन इस कामको इतनी आस्थासे, प्रेम-भावसे करेगा? फिर इसके लिए तपस्या भी चाहिए। ताप सहन किये बिना, कष्ट उठाये बिना यह काम होगा कैसे? इससे यह सिद्ध होता है कि किसी भी कामको सफल बनानेके लिए प्रेम, ज्ञान और कर्म—तीनों चीजोंकी जरूरत है। जीवनके सारे कर्म इन तीन गुणोंपर खड़े हैं। तिपाईका यदि एक पाँव भी टूट जाय, तो वह खड़ी नहीं रह सकती। तीनों पाँव चाहिए। उसके नाममें ही उसका रूप निहित है। यही हाल जीवनका है। ज्ञान, भक्ति और कर्म अर्थात् श्रम-सातत्य, ये जीवनके तीन पाँव हैं। इन तीनों खंभों-पर जीवनरूपी द्वारका खड़ी करनी है। ये तीन पाँव मिलाकर एक ही वस्तु बनती है। इसपर तिपाईका दृष्टांत अक्षरशः लागू होता है। तर्कके द्वारा भले ही आप भक्ति, ज्ञान और कर्मको पृथक् मानिये, परन्तु प्रत्यक्ष रूपसे इन्हें पृथक् नहीं किया जा सकता। तीनों मिलकर एक ही विशाल वस्तु बनती है।

७. ऐसा होनेपर भी यह बात नहीं कि भक्तिमें विशेष गुण न हो। किसी भी कर्ममें जब भक्ति-तत्त्व मिलेगा, तभी वह सुलभ लगेगा। 'सुलभ लगने' का अर्थ यह नहीं कि कष्ट होंगे ही नहीं। उसका अर्थ यही है कि वे कष्ट 'कष्ट' नहीं मालूम होंगे, उलटे आनन्दरूप मालूम होंगे। शूल फूल जैसे प्रतीत होंगे। भक्ति-मार्ग सरल है, इसका तात्पर्य भी क्या है? यही कि भक्ति-भावके कारण कर्मका बोझ नहीं मालूम होता। कर्मकी कठि-

नता चली जाती है। कितना ही कर्म करो, वह न किये-सा मालूम होता है। भगवान् ईसामसीह एक जगह कहते हैं—“यदि तू उपवास करता है, तो चेहरेपर उपवासके चिह्न न दिखने चाहिए; बल्कि गालोंपर सुगन्धित पदार्थ लगे हों, ऐसा चेहरा प्रफुल्लित और आनन्दित दिखना चाहिए। उपवाससे कष्ट हो रहा है, ऐसा न दिखना चाहिए।” सारांश यह कि वृत्ति इतनी भक्तिमय हो कि कष्ट भूल जायँ। हम कहते हैं न कि ‘फलाँ बहादुर, देशभक्त हँसते-हँसते फाँसीपर चढ़ गया।’ सुधन्वा तेलकी कढ़ाईमें हँस रहा था। मुँहसे कृष्ण, विष्णु, हरि, गोविन्दकी ध्वनि निकल रही थी। इसका इतना ही अर्थ है कि अपार कष्ट आ पड़नेपर भी भक्तिके प्रभावसे वे कुछ भी न मालूम हुए। पानीपर पड़ी हुई नावको धकेलना कठिन नहीं है; परन्तु यदि उसीको धरतीपरसे, चट्टानोंपरसे खींचकर ले जाना हो, तो कितनी मेहनत पड़ेगी! नावके नीचे यदि पानी होगा, तो हम सहज ही तर जायँगे। इसी तरह हमारी जीवन-नौकाके नीचे यदि भक्तिरूपी पानी होगा, तो वह आनन्दसे खेयी जा सकेगी। परन्तु यदि जीवन शुष्क होगा, रास्तेमें रेत पड़ी होगी, कंकड़-पत्थर होंगे, खाई-खड्ड होंगे, तो इस नौकाको खींचकर ले जाना बड़ा कठिन काम हो जायगा। भक्ति-तत्त्व हमारी जीवन-नौकाको पानी-की तरह सुलभता प्राप्त करा देता है।

भक्ति-मार्गसे साधनामें सुलभता आ जाती है, परन्तु आत्मज्ञानके बिना सदाके लिए त्रिगुणोंके उस पार जानेकी आशा नहीं। तो फिर आत्म-ज्ञानके लिए साधन क्या? यही कि सत्त्व-सातत्यसे सत्त्वगुणको आत्मसात् करके उसका अहङ्कार और भक्तिके द्वारा उसके फलकी आसक्ति जीतनेका प्रयत्न! इस साधनाके द्वारा सतत, अखंड प्रयत्न करते हुए एक दिन आत्मदर्शन हो जायगा। तबतक हमारे प्रयत्नका अन्त नहीं आ सकता। यह परम पुरुषार्थकी बात है। आत्मदर्शन कोई हँसी-खेल नहीं है। रास्ता चलते यों ही आत्मदर्शन हो जायगा, ऐसा नहीं है। उसके लिए सतत प्रयत्नकी धारा बहानी होगी। परमार्थ-मार्गमें शर्त ही यह है कि “मैं निराशाको तिलमात्र जगह न दूँ। क्षण-

भर भी मैं निराश होकर न बैठूँ।” इसके सिवा परमार्थका दूसरा साधन नहीं है। कभी-कभी साधक थक जाता है और कहने लगता है—

तुव कारन तप संयम किरिया
कहो कहाँ लौं कीजै ?

‘भगवन्, मैं तुम्हारे लिए कहाँतक तप करता रहूँ?’ परन्तु यह कहना गौण है। तप और संयमका हम इतना अभ्यास कर लें कि वे हमारा स्वभाव ही बन जायँ। ‘कहाँतक साधन करते रहें?’—यह भाषा भक्ति-मार्गमें बोधा नहीं देती। भक्ति कभी भी अधीरभाव, निराशाभाव पैदा नहीं होने देती। जी ऊबने जैसी कोई बात उसमें न होनी चाहिए। भक्ति-में उत्तरोत्तर उत्साह और उत्साह मालूम होता रहे, इसके लिए बहुत सुन्दर विचार इस अध्यायमें बताया गया है।

८४. सेवाकी त्रिपुटि : सेव्य, सेवक, सेवा-साधन

८. इस विश्वमें हमें अनन्त वस्तुएँ दिवाई देती हैं। इनके तीन भाग करें। जब कोई भक्त सुबह उठता है, तो तीन ही चीजें उसकी आँखोंके सामने आती हैं। पहलें उसका ध्यान भगवान्की तरफ जाता है। तब वह उनकी पूजाकी तैयारी करता है। मैं सेवक भक्त, वह सेव्य भगवान्, स्वामी—ये दो चीजें उसके पास सदैव तैयार रहती हैं। अब रही बाकी सृष्टि, सो वह है उसकी पूजाका साधन। फूल, गंध, धूप-दीप इनके लिए यह सारी सृष्टि है। तीन ही चीजें हैं—सेवक भक्त, सेव्य परमात्मा और सेवा-साधनके रूपमें यह सृष्टि। यही शिक्षा इस अध्यायमें दी गयी है। परन्तु जो सेवक किसी एक मूर्तिकी पूजा करता है, उसे सृष्टिके सब पदार्थ पूजाके साधन नहीं मालूम होते। वह बगीचेसे चार फूल तोड़कर लाता है, कहींसे अगरबत्ती ले आता है, कुछ नैवेद्य चढ़ाता है। वह चुनकर छाँटकर ही चीजें लेना चाहता है; परन्तु पन्द्रहवें अध्यायमें जो विशाल सीख दी गयी है, उसमें यह चुनाव करनेकी जरूरत नहीं है। जो कुछ भी तपस्याके साधन हैं, कर्मके साधन हैं, वे सब परमेश्वरकी सेवाके साधन हैं। उनमेंसे कुछको हम फूल कहेंगे, कुछको गंध और कुछको नैवेद्य। इस तरह जितने

भी कर्म हैं, उन सबको पूजा-द्रव्य बना देना है। ऐसी यह दृष्टि है। वस, संसारमें सिर्फ ये तीन ही चीजें हैं। गीता जिस वैराग्यमय साधन-मार्गको हमारे मनपर अंकित करना चाहती है, उसीको वह भक्तिमय स्वरूप दे रही है। उसमेंसे कर्मत्व हटा रही है और उसमें सुलभता ला रही है।

९. आश्रममें जब किसीको बहुत ज्यादा काम करना पड़ता है, तब उसके मनमें यह विचार ही कभी नहीं आता—“मैं ही क्यों ज्यादा काम करूँ ?” इस बातमें बड़ा सार है। पूजा करनेवालेको यदि दोकी जगह चार घंटे पूजा करनेको मिले, तो क्या वह उकताकर ऐसा कहेगा—“अरे राम, आज तो चार घंटा पूजा करनी पड़ी !” बल्कि उससे उसे अधिक ही आनन्द मालूम होगा। आश्रममें ऐसा अनुभव होता है। यही अनुभव हमें जीवनमें सर्वत्र होना चाहिए। जीवन सेवा-परायण हो जाना चाहिए। वह सेव्य पुरुषोत्तम, उसकी सेवाके लिए सदैव तत्पर मैं अक्षर पुरुष हूँ। ‘अक्षर-पुरुष’ का अर्थ है, कभी भी न थकनेवाला, सृष्टिके आरम्भसे लेकर सेवा करनेवाला सनातन सेवक। जैसे हनुमान् रामके सामने सदैव हाथ जोड़कर खड़े ही हैं। उन्हें आलस्य छूतक नहीं गया है। हनुमान्की तरह ही चिरंजीव यह सेवक तत्पर खड़ा है।

ऐसे आजन्म सेवकका ही नाम ‘अक्षर-पुरुष’ है। ‘परमात्मा’ यह संस्था जीवित है और मैं उसका ‘सेवक’ भी सदैव कायम हूँ। प्रभु कायम हैं, तो मैं भी कायम हूँ। देखें, वह सेवा लेते हुए थकता है या मैं सेवा करते हुए ? यदि उसने दस अवतार लिये हैं, तो मेरे भी दस अवतार हुए हैं। वह राम हुआ तो मैं हनुमान्, वह कृष्ण हुआ तो मैं उद्धव। जितने उसके अवतार, उतने मेरे भी। लगने दो ऐसी मीठी होड़ ! परमेश्वरकी इस तरह युग-युग सेवा करनेवाला, कभी नाश न पानेवाला यह जीव अक्षर-पुरुष है। वह पुरुषोत्तम स्वामी और मैं उसका बंदा, सेवक। यह भावना सतत हृदयमें रखनी चाहिए; और यह प्रतिक्षण बदलनेवाली, अनन्त रूपों-से सजनेवाली सृष्टि, इसे पूजा-साधन, सेवाका साधन बनाना है। प्रत्येक क्रिया मानो पुरुषोत्तमकी पूजा ही है।

१०. सेव्य परमात्मा पुरुषोत्तम, सेवक जीव अक्षर-पुरुष; परन्तु यह

साधनरूप सृष्टि क्षर है। इसके 'क्षर' होनेमें बड़ा अर्थ है। सृष्टिका यह दूषण नहीं, भूषण है। इससे सृष्टिमें नित्य-नवीनता है। कलके फूल आज काम नहीं दे सकते। वे निर्माल्य हो गये। सृष्टि नाशवान् है, यह बड़े भाग्यकी बात है। यह सेवाका वैभव है। रोज नवीन फूल सेवाके लिए तैयार मिलते हैं। उसी तरह मैं शरीर भी नया-नया धारण करके परमेश्वरकी सेवा करूँगा। अपने साधनोंको मैं नित्य नवीन रूप दूँगा और उन्हींसे उनकी पूजा करूँगा। इस नश्वरताके कारण यह सौन्दर्य है।

११. चन्द्रकी कला जो आज है, वह कल नहीं। चन्द्रका नित्य निराला लावण्य है। दूजके उस वर्धमान चंद्रको देखकर कितना आनंद होता है ! शंकरके ललाटपर उस द्वितीयाके चन्द्रकी शोभा प्रकट है। अष्टमीके चन्द्रमाका सौंदर्य कुछ और ही होता है। उस दिन आकाशमें चुने-चुने मोती ही दिखाई देते हैं। पूर्णिमाको चन्द्रमाके तेजसे तारे नहीं दीखते। पूर्णिमाको परमेश्वरका मुखचन्द्र दीखता है। अमावास्याका आनन्द तो बड़ा गंभीर होता है। उस रात्रिमें कितनी निस्तब्ध शांति छायी रहती है ! चन्द्रमाके सर्वग्रासी प्रकाशके हट जानेसे छोटे-बड़े अगणित तारे पूरी आजादीसे खुलकर जगमगाते रहते हैं। अमावास्याकी रातमें स्वतंत्रता पूर्ण रूपसे विलास करती है। अपने तेजकी शान दिखानेवाला चंद्रमा आज वहाँ नहीं है। अपने प्रकाश-दाता सूर्यसे वह आज एकरूप हो गया है। वह परमेश्वरमें मिल गया। उस दिन मानो वह दिखाता है कि जीव खुद आत्मार्पण करके किस तरह संसारको जरा भी दुःख न पहुँचाये। चंद्रका स्वरूप क्षर है, परिवर्तनशील है; परन्तु वह भिन्न-भिन्न रूपमें आनंद देता है।

१२. सृष्टिकी जो नश्वरता है, वही उसकी अमरता है। सृष्टिका रूप छल-छल बह रहा है। यह रूप-गंगा यदि बहती न रहे, तो उसका एक डबरा बन जायगा। नदीका पानी अखंड रूपसे बहता रहता है। वह सतत बदलता रहता है। एक बूंद गयी, दूसरी आयी। वह पानी जीवित रहता है। वस्तुमें जो आनंद मालूम होता है, वह उसकी नवीनताके

कारण । ग्रीष्म ऋतुमें परमात्माको और तरहके फूल चढ़ाये जाते हैं । वर्षा ऋतुमें हरी-हरी दूब चढ़ायी जाती है । शरद् ऋतुमें सुरम्य कमलके पुष्प चढ़ाते हैं । तत्तत् ऋतुकालोद्भव फलपुष्पोंसे भगवान्की पूजा की जाती है । इसीसे वह पूजा शुभ और नित्य नूतन प्रतीत होती है । उससे जी नहीं ऊबता । छोटे बच्चेको जब 'क' लिखकर कहते हैं कि "इसपर हाथ फेरो, इसे मोटा बनाओ" तो यह क्रिया उसे उबा देनेवाली मालूम होती है । वह समझ नहीं पाता कि इसे मोटा क्यों बनाया जाता है । वह पेंसिल आड़ी करके उसे जल्दी मोटा बना देता है । परन्तु आगे चलकर वह नये अक्षरोंको, उनके समुदायको देखता है । तरह-तरहकी पुस्तकें पढ़ने लगता है । साहित्यिक नानाविध सुमन-मालाका अनुभव उसे होता है, तब उसे अपार आनंद मालूम होता है । यही बात सेवा-प्राप्तकी है । साधनोंकी नित्य नवीनतासे सेवाकी उमंग बढ़ती है । सेवा-वृत्तिक विकास होता है ।

सृष्टिकी यह नखरता नित्य नये पुष्प खिल रही है । गाँवके निकट श्मशान है, इसीसे गाँव रमणीक मालूम होता है । पुराने लोग जा रहे हैं, नये बालक जन्म ले रहे हैं । सृष्टि नित्य नवीन बढ़ रही है । बाहरका वह श्मशान यदि मिटा दोगे, तो वह घरमें आकर बैठ जायगा । तुम ऊब उठोगे उन्हीं-उन्हीं व्यक्तियोंको रोज-रोज देखकर । गर्मियोंमें गर्मी पड़ती है, पृथ्वी तपती है; परन्तु इससे तुम घबराओ नहीं । यह रूप बदल जायगा । वर्षाका सुख लेनेके लिए यह तपन आवश्यक है । यदि जमीन खूब तपी न होगी, तो पानी बरसते ही कीचड़ हो जायगा । फिर तृण-धान्य उसमें नहीं खिल पायेंगे ।

मैं एक बार गर्मियोंमें घूम रहा था । सिर तप रहा था । बड़ा आनंद आ रहा था । एक मित्रने मुझसे कहा—"सिर गरम हो जायगा, तो तकलीफ होगी ।" मैंने कहा—"नीचे जमीन भी तो तप रही है । इस मिट्टीके पुतलेको भी जरा तपने दो ।" सिर तपा हुआ हो, उसपर पानीकी फुहारें पड़ने लगें—तो कितना आनंद होता है ! परन्तु जो गर्मियोंमें तपता नहीं, वह पानी बरसनेपर भी अपनी पुस्तकमें सिर घुसाकर बैठा रहेगा । अपने

कमरेमें, उस कमरेमें ही घुसा रहेगा। बाहरके इस विशाल अभिषेक-पात्रके नीचे खड़ा रहकर आनंदसे नाचेगा नहीं; परन्तु हमारे वे महर्षि मनु बड़े रसिक और सृष्टि-प्रेमी थे। वे स्मृतिमें लिखते हैं—“जब पानी बरसने लगे, तो छुट्टी कर दो।” जब वर्षा हो रही हो, तो क्या आश्रममें बैठे पाठ घोखते रहें? वर्षामें तो नाचना-गाना चाहिए। सृष्टिसे एकरूपता स्थापित करनी चाहिए। वर्षामें पृथ्वी और आकाश एक-दूसरेसे मिलते हैं। यह भव्य दृश्य कितना आनंददायी होता है! यह सृष्टि स्वयं हमें शिक्षा दे रही है।

सारांश, सृष्टिकी क्षरता, नश्वरताका अर्थ है, साधनोंकी नवीनता। इस तरह यह नव-नव प्रसवा साधनदात्री सृष्टि, कमर कसकर सेवाके लिए खड़ा सनातन सेवक और वह सेव्य परमात्मा। अब चलने दो खेल। वह परम पुरुष पुरुषोत्तम नये-नये विचित्र सेवा-साधन देकर मुझसे प्रेममूलक सेवा ले रहा है। नाना प्रकारके साधन देकर वह मुझे खेला रहा है। मुझसे तरह-तरहके प्रयोग करा रहा है। यदि हमें जीवनमें ऐसी दृष्टि आ जाय, तो कितना आनन्द मिले!

८५. अह-शून्य सेवाका ही अर्थ भवित

१३. गीता चाहती है कि हमारी प्रत्येक कृति भक्तिमय हो। हम जो घड़ी, आध-घड़ी ईश्वरकी पूजा करते हैं, सो तो ठीक ही है। सुबह-शाम जब सुन्दर सूर्य-प्रभा अपना रंग छिटकाती है, तब चित्तको स्थिर करके घंटा, आध घंटा संसारको भूल जाना और अनन्तका चिन्तन करना उत्तम विचार है। इस सदाचारको कभी न छोड़ना चाहिए। परन्तु गीताको इतनेसे संतोष नहीं है। सुबहसे शामतककी सारी क्रियाएँ भगवान्की पूजाके लिए होनी चाहिए। नहाते, खाते, सफाई करते उसका स्मरण रहना चाहिए। झाड़ते समय यह भावना होनी चाहिए कि मैं अपने प्रभु, अपने जीवन-देवका आँगन साफ कर रहा हूँ। हमारे समस्त कर्म इस तरह पूजा-कर्म हो जाने चाहिए। यदि यह दृष्टि आ जाय, तो फिर देखियेगा, आपके व्यवहारमें कितना अन्तर पड़ जाता है! हम कितनी सावधानीसे पूजाके लिए फूल चुनते हैं, उन्हें जतनसे डलियामें सँभालकर

रखते हैं ! वे दब न जायँ, कुचल न जायँ, कुम्हला न जायँ, इसका कितना ध्यान रखते हैं ! कहीं मलिन न हो जायँ, इस खयालसे उन्हें नाकके पास नहीं ले जाते । यह दृष्टि, यही भावना हमारे जीवनके प्रतिदिनके कर्मोंमें आ जानी चाहिए । अपने इस गाँवमें मेरे पड़ोसीके रूपमें मेरा नारायण, मेरा प्रभु ही तो निवास करता है । इस गाँवको मैं साफ-सुथरा, निर्मल रखूँगा । गीता हमें यह दृष्टि देना चाहती है । हमारे सभी कर्म प्रभु-पूजा ही हो जायँ, इस बातका गीताको बड़ा शौक है । गीता जैसे ग्रन्थराजको घड़ी, आधघड़ी पूजासे समाधान नहीं । सारा जीवन हरिमय होना चाहिए, यह गीताकी उत्कट इच्छा है ।

१४. गीता पुरुषोत्तम-योग बताकर कर्ममय जीवनको पूर्णतापर पहुँचाती है । वह सेव्य पुरुषोत्तम, मैं उसका सेवक और सेवाके साधनरूप यह सारी सृष्टि—यदि इस बातका दर्शन हमें एक बार हो जाय, तो फिर और क्या चाहिए ? तुकाराम कह रहे हैं—

झालिया दर्शन करीन मी सेवा ।

आणिक कांहीं देवा न लगे दुजें ॥

—“दर्शन हो जाने पर तेरी सेवा करूँगा । मुझे और कुछ नहीं चाहिए प्रभो !”

फिर तो अखंड सेवा ही होती रहेगी । तब ‘मैं’ जैसा कुछ रहेगा ही नहीं । मैं-मेरापन सब मिट जायगा । जो होगा सब परमात्माके लिए । पर-हितार्थ जीनेके सिवा दूसरा विषय ही नहीं रहेगा । गीता बार-बार यही कह रही है कि मैं अपनेपनमेंसे मैं-पनको निकालकर हरिपरायण जीवन बनाऊँ, भक्तिमय जीवन रचूँ । सेव्य परमात्मा, मैं सेवक और साधनरूप यह सृष्टि ! परिग्रहका नाम ही कहाँ रहा ? जीवनमें अब किसी बातकी चिंता ही नहीं रही ।

८६. ज्ञान-लक्षण : मैं पुरुष, वह पुरुष, यह भी पुरुष

१५. अबतक हमने देखा कि इस तरह कर्ममें भक्तिका योग करना चाहिए; परन्तु उसमें ज्ञान भी चाहिए, अन्यथा गीताको संतोष न होगा । परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि ये तीनों चीजें भिन्न-भिन्न हैं, केवल

बोलनेके लिए हम भिन्न-भिन्न भाषा बोलते हैं। कर्मका अर्थ ही है भक्ति। भक्ति कोई अलगसे लाकर कर्ममें मिलानी नहीं पड़ती। यही बात ज्ञानकी है। यह ज्ञान मिलेगा कैसे? गीता कहती है—“सर्वत्र पुरुष-दर्शनसे।” तुम सेवा करनेवाले सनातन सेवक—तुम सेवा-पुरुष, वह पुरुषोत्तम सेव्य पुरुष और नानारूपधारिणी, नानासाधनदायिनी, प्रवाहमयी यह सृष्टि, यह भी पुरुष ही !

१६. ऐसी दृष्टि रखनेका अर्थ क्या? सर्वत्र त्रुटिरहित निर्मल सेवा-भाव रखना ! तुम्हारे पैरकी चप्पल चर-चूँ बोल रही है, जरा उसे तेल दे दो। उसमें भी परमात्माका ही अंश है, अतः उसे सँभालकर रखो। यह सेवाका साधन चरखा, इसमें भी तेल डालो। देखो, यह आवाज दे रहा है। ‘नेति-नेति’—‘सूत नहीं कातूँगा’—कहता है। यह चरखा—यह सेवा-साधन भी पुरुष ही है। इसकी माल, इसका यह जनेऊ भली प्रकार रखो। सारी सृष्टिको चैतन्यमय मानो। इसे जड़ मत समझो। ॐकारका सुन्दर गान करनेवाला यह चरखा क्या जड़ है? यह तो परमात्माकी मूर्ति ही है। भाद्रपदकी अमावास्याको हम अहंकार छोड़कर बैलकी पूजा करते हैं। बड़ी भारी बात है यह। रोज अपने मनमें इस उत्सवका ध्यान रख करके, बैलोंको अच्छी हालतमें रखकर उनसे उचित काम लेना चाहिए। उत्सवके दिनकी भक्ति उसी दिन समाप्त न होनी चाहिए। बैल भी परमात्माकी ही मूर्ति है। वह हल, खेतीके सब औजार अच्छी हालतमें रखो। सेवाके सभी साधन पवित्र होते हैं। कितनी विशाल है यह दृष्टि ! पूजा करनेका अर्थ यह नहीं कि गुलाल, गंधाक्षत और फूल चढ़ायें। बरतनोंको काँचकी तरह साफ-सुथरा रखना बरतनोंकी पूजा है। दीपकको स्वच्छ करना दीपक-पूजा है। हँसियेको तेज करके घास काटनेके लिए तैयार रखना उसकी पूजा है। दरवाजेका कब्जा जंग खाये, तो उसे तेल लगाकर संतुष्ट कर देना उसकी पूजा है। जीवनमें सर्वत्र इस दृष्टिसे काम लेना चाहिए। सेवाद्रव्य उत्कृष्ट और निर्मल रखना चाहिए। सारांश यह कि मैं अक्षर-

१. महाराष्ट्रका विशिष्ट त्योहार, जिसे ‘पोळो’ कहा जाता है।

पुरुष, वह पुरुषोत्तम और साधनरूप यह सृष्टि, वह भी पुरुष ही, परमात्मा ही। सर्वत्र एक ही चैतन्य रम रहा है—जब यह दृष्टि आ गयी, तो समझ लो कि हमारे कर्ममें ज्ञान भी आ गया।

१७. पहले कर्ममें भक्तिका पुट दिया, अब ज्ञानका भी योग कर दिया, तो जीवनका एक दिव्य रसायन बन गया। गीताने हमें अंतमें अद्वैतमय सेवाके रास्तेपर लाकर छोड़ दिया। इस सारी सृष्टिमें जहाँ देखिये, तीन पुरुष विद्यमान हैं। एक ही पुरुषोत्तमने ये तीन रूप धारण किये हैं। तीनोंको मिलाकर वास्तवमें एक ही पुरुष है। केवल अद्वैत है। यहाँ गीताने हमें सबसे ऊँचे शिखरपर लाकर छोड़ दिया है। कर्म, भक्ति, ज्ञान, सब एकरूप हो गये। जीव, शिव, सृष्टि, सब एकरूप हो गये। कर्म, भक्ति और ज्ञानमें कोई विरोध नहीं रह गया।

१८. ज्ञानदेवने 'अमृतानुभव' में महाराष्ट्रका प्रिय दृष्टांत दिया है—

देव देऊळ परिवार । कीजें कोरुनि डोंगर ।

तैसा भक्तीचा वेव्हार । कां न होभावा ॥

—“पर्वत कुरेदकर देव, मन्दिर आदि परिवार बनाया; भक्तिका भी ऐसा आचार क्यों न हो?”

एक ही पत्थरको कुरेदकर उसीका मंदिर, उस मंदिरमें पत्थरकी गढ़ी हुई भगवान्की मूर्ति और उसके सामने पत्थरका ही भक्त, उसके पास पत्थरके ही बनाये हुए फल, ये सब जैसे एक ही पत्थरकी चट्टान खोद-काटकर बनाते हैं—एक ही अखण्ड पत्थर अनेक रूपोंमें सजा हुआ है, वैसा ही भक्तिके व्यवहारमें भी क्यों न होना चाहिए? स्वामिसेवक-सम्बन्ध रहकर भी एकता क्यों नहीं हो सकती? यह बाह्य सृष्टि, यह पूजा-द्रव्य पृथक् होते हुए भी आत्मरूप क्यों न बन जायँ? तीनों पुरुष एक ही तो हैं। ज्ञान, कर्म, भक्ति, इन तीनोंको मिलाकर एक विशाल जीवन-प्रवाह बना दिया जाय, ऐसा यह परिपूर्ण पुरुषोत्तम-योग है। स्वामी, सेवक और सेवा-द्रव्य सब एकरूप ही हैं; अब भक्ति-प्रेमका खेल खेलना है।

१९. ऐसा यह पुरुषोत्तम-योग जिसके हृदयमें अंकित हो जाय, वही सच्ची भक्ति करता है।

स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत।

ऐसा पुरुष ज्ञानी होकर भी सोलहो आना भक्त रहता है। जिसमें ज्ञान है, उसमें प्रेम तो है ही। परमेश्वरका ज्ञान और परमेश्वरका प्रेम, ये दो अलग चीजें नहीं हैं। 'करैला कडुआ है'—ऐसा ज्ञान हो, तो उसके प्रति प्रेम नहीं उत्पन्न होता। एकआध अपवाद हो सकता है; पर जहाँ कडुएणनका अनुभव हुआ कि जी ऊँचा। पर मिश्रीका ज्ञान होते ही प्रेम बहने लगता है। तुरन्त ही प्रेमका स्रोत उमड़ पड़ता है। परमेश्वरके विषयमें ज्ञान होना और प्रेम उत्पन्न होना, दोनों बातें एक ही हैं। परमेश्वरके रूपके माधुर्यकी उपमा क्या रददी शकरसे दी जाय? उस मधुर परमेश्वरका ज्ञान होते ही उसी क्षण प्रेम-भाव भी पैदा हो जायगा। यही मानिये कि ज्ञान होना और प्रेम होना, ये दोनों मानो भिन्न क्रियाएँ ही नहीं हैं। अद्वैतमें भक्तिको स्थान है या नहीं, इस बहसमें कुछ नहीं रखा है। ज्ञानदेव कहते हैं—

हैं जि भक्ति हैं जि ज्ञान।

एक विठ्ठल जि जाण॥

—'एक विठ्ठलको ही जान। वही भक्ति है, वही ज्ञान है।' भक्ति और ज्ञान एक ही वस्तुके दो नाम हैं।

२०. जीवनमें परम भक्तिका संचार हो जानेपर जो कर्म होता है, वह भक्ति और ज्ञानसे अलग नहीं रहता। कर्म, भक्ति और ज्ञान मिलाकर एक ही रमणीय रूप बन जाता है। इस रमणीय रूपसे अद्भुत प्रेममय, ज्ञानमय सेवा सहज ही उत्पन्न होती है। माँपर मेरा प्रेम है, किन्तु यह प्रेम कर्मके द्वारा प्रकट होना चाहिए। प्रेम सदैव मरता-खपता रहता है, सेवारूपमें व्यक्त होता रहता है। प्रेमका बाह्य रूप है सेवा। प्रेम अनंत सेवा-कर्मके द्वारा सजकर नाचता है। प्रेम हो तो ज्ञान भी वहाँ आ जाता है। जिसकी सेवा मुझे करनी है, उसे कौन-सी सेवा प्रिय होगी, इसका ज्ञान मुझे होना चाहिए, नहीं तो यह सेवा अ-सेवा या कु-सेवा

ही रहेगी। सेव्य वस्तुका ज्ञान प्रेमको होना चाहिए। प्रेमका प्रभाव कार्यद्वारा फैलानेके लिए ज्ञानकी आवश्यकता है, परन्तु उसके मूलमें प्रेम होना चाहिए। वह न हो, तो ज्ञान निरूपयोगी हो जाता है। प्रेमके द्वारा होनेवाला कर्म मामूली कर्मसे भिन्न होता है। खेतसे थके-माँदे आये लड़केपर माँ सहज प्रेमकी दृष्टि डालती और कहती है—“बेटा, थक गये हो !”, परन्तु इस छोटे कर्ममें, देखिये तो कितनी सामर्थ्य है ! अपने जीवनके समस्त कर्ममें ज्ञान और भक्तिको ओतप्रोत कीजिये। यही ‘पुरुषोत्तमयोग’ कहलाता है।

८७. सर्व-वेद-सार मेरे ही हाथोंमें

२१. यह सब वेदोंका सार है। वेद अनन्त हैं, परन्तु उन अनन्त वेदोंका सार-संक्षेप यह पुरुषोत्तम-योग है। वेद हैं कहाँ ? वेदोंकी बात विचित्र है। वेदोंका सार है कहाँ ? अध्यायके प्रारम्भमें ही कहा है—**छन्दांसि यस्य पर्णानि**—‘पत्र हैं जिसके वेद।’ भाई, वेद तो इस वृक्षके एक-एक पत्तेमें भरे हुए हैं। वेद उन संहिताओंमें, आपके ग्रन्थों और पोथियोंमें छिपे हुए नहीं हैं। वे विश्वमें सर्वत्र फैले हैं। शेक्सपियर कहता है—“बहते हुए झरनोंमें सद्ग्रन्थ मिलते हैं, पत्थरों-चट्टानोंसे प्रवचन सुनाई पड़ते हैं।” सारांश यह कि वेद न संस्कृतमें हैं, न संहिताओंमें, वे सृष्टिमें हैं। सेवा करो तो वे दिखाई देंगे।

२२. **प्रभाते करदर्शनम्**—सुबह उठते ही अपनी हथेली देखनी चाहिए। सारे वेद हाथमें हैं। वह वेद कहता है, “सेवा करो।” कल हाथने काम किया था या नहीं, आज करने योग्य है या नहीं, उसमें कामके घट्टे पड़े हैं या नहीं, यह देखिये। सेवा करके जब हाथ घिस जाता है, तो फिर ब्रह्मलिखित प्रकट होता है, यह अर्थ है ‘प्रभाते करदर्शनम्’ का।

२३. पूछते हैं, वेद कहाँ हैं ? भाई, तुम्हारे पास ही तो हैं। हमें-तुम्हें तो जन्मतः ही वे प्राप्त हैं। मैं खुद ही जीता-जागता वेद हूँ। अब तककी सारी परम्परा मुझमें आत्मसात् हुई है। मैं उस परम्पराका फल हूँ। उस वेदबीजका जो फल है, वही तो मैं हूँ। अपने फलमें मैंने अनन्त वेदोंका बीज संचित कर रखा है। मेरे उदरमें वेद पाँच-पचासगुना बड़े हो गये।

२४. सारांश, वेदोंका सार हमारे हाथोंमें है। सेवा, प्रेम और ज्ञानकी नींवपर हमें जीवन गढ़ना होगा। इसीका अर्थ है, वेद हाथोंमें हैं। मैं जो अर्थ करूँगा, वही वेद होगा, वेद कहीं बाहर नहीं हैं। सेवा-मूर्ति संत कहते हैं—वेदांचा तो अर्थ आम्हांसी च ठावा।—‘वेदोंका जो अर्थ है, वह एक हम ही जानते हैं।’ भगवान् कह रहे हैं—‘सारे वेद मुझे ही जानते हैं। मैं ही सब वेदोंका सत्त्वांश, सार पुरुषोत्तम हूँ।’ यह जो वेदोंका सार पुरुषोत्तम-योग है, उसे यदि हम अपने जीवनमें आत्मसात् कर सकें, तो कितना आनन्द हो ! तो फिर ऐसा पुरुष जो कुछ करता है, उसमेंसे वेद ही प्रकट होते हैं, ऐसा गीता मुझाती है। इस अध्यायमें सारी गीताका सार आ गया है। गीताकी शिक्षा इसमें पूर्ण रूपसे प्रकट हुई है। उसे अपने जीवनमें उतारनेका हमें रात-दिन प्रयत्न करना चाहिए। और क्या ?

रविवार, २९-५-३२

परिशिष्ट १

१६. दैवी और आसुरी वृत्तियोंका झगड़ा

८८. पुरुषोत्तम-योगकी पूर्ण प्रभा : दैवी सम्पत्ति

१. गीताके पहले पाँच अध्यायोंमें हमने देखा कि जीवनकी सारी योजना क्या है, और हम अपना जन्म सफल कैसे कर सकते हैं। उसके बाद छठे अध्यायसे ग्यारहवें अध्यायतक हमने भक्तिका भिन्न-भिन्न प्रकारसे विचार किया। ग्यारहवें अध्यायमें भक्तिका दर्शन हुआ। बारहवेंमें सगुण और निर्गुण भक्तिकी तुलना करके भक्तके महान् लक्षण देखे। बारहवें अध्यायके अन्ततक कर्म और भक्ति, इन दोनों तथ्योंकी छानबीन

हुई। ज्ञानका तीसरा विभाग रह गया था, उसे हमने तेरहवें, चौदहवें और पन्द्रहवें अध्यायोंमें देख लिया—आत्माको देहसे अलग करना और उसके लिए तीनों गुणोंको जीतकर अन्तमें सर्वत्र प्रभुको देखना। पन्द्रहवें अध्यायमें जीवनका सम्पूर्ण शास्त्र देख लिया। पुरुषोत्तम-योगमें जीवनकी पूर्णता होती है। उसके बाद फिर कुछ बाकी नहीं रहता।

२. कर्म, ज्ञान और भक्तिकी पृथकता मुझे सहन नहीं होती। कुछ साधकोंकी ऐसी निष्ठा होती है कि उन्हें केवल कर्म ही सूझता है। कोई भक्तिके स्वतन्त्र मार्गकी कल्पना करते हैं और उसीपर सारा जोर देते हैं। कुछ लोगोंका झुकाव ज्ञानकी ओर होता है। जीवनका अर्थ केवल कर्म, केवल भक्ति, केवल ज्ञान—ऐसा 'केवल'-वाद मुझे मंजूर नहीं। इसके विपरीत कर्म, भक्ति और ज्ञानके जोड़को, यानी समुच्चय-वादको, भी मैं नहीं मानता। कुछ भक्ति, कुछ ज्ञान और कुछ कर्म, इस तरहका उपयोगिता-वाद भी मुझे नहीं जँचता। पहले कर्म, फिर भक्ति, फिर ज्ञान, इस तरहके क्रम-वादको भी मैं नहीं स्वीकारता। तीनों वस्तुओंका समन्वय किया जाय, यह सामंजस्य-वाद भी मुझे पसंद नहीं है। मुझे तो यह अनुभव करनेको इच्छा होती है कि जो कर्म है, वही भक्ति है, वही ज्ञान है। बर्फीके एक टुकड़ेकी मिठास, उसका आकार और उसका वजन अलग-अलग नहीं है। जिस क्षण हम बर्फीका टुकड़ा मुँहमें डालते हैं, उसी क्षण उसका आकार भी हम खा लेते हैं और उसका वजन भी पचा लेते हैं, और उसकी मिठास भी चख लेते हैं। तीनों बातें मिली-जुली हैं। बर्फीके प्रत्येक कणमें आकार, वजन और मधुरता है। यह नहीं कि उसके एक टुकड़ेमें केवल आकार है, दूसरेमें कोरी मिठास है और तीसरेमें सिर्फ वजन ही है। उसी तरह जीवनकी प्रत्येक क्रियामें परमार्थ भरा रहना चाहिए—प्रत्येक कृत्य सेवामय, प्रेममय और ज्ञानमय होना चाहिए। जीवनके अंगप्रत्यंगमें कर्म, भक्ति और ज्ञान भरा रहना चाहिए, इसे 'पुरुषोत्तमयोग' कहते हैं। सारे जीवनको केवल परमार्थमय ही बना डालना—यह बात बोलनेमें तो बड़ी आसान है, परन्तु इस उच्चारणमें जो भाव है, वह उसका यदि विचार करने लगे, तो केवल निर्मल सेवा करनेके

लिए अन्तःकरणमें शुद्ध ज्ञान-भक्तिकी हार्दिकता गृहीत समझकर चलना होगा। इसलिए कर्म, भक्ति और ज्ञान अक्षरशः एकरूप हैं, इस परम दशाको 'पुरुषोत्तम-योग' कहते हैं। यहाँ जीवनकी अन्तिम सीमा आ गयी।

३. अब, आज हम देखें कि इस सोलहवें अध्यायमें क्या कहा गया है ? जिस प्रकार सूर्योदय होनेके पहले उसकी प्रभा फैलने लगती है, उसी प्रकार जीवनमें कर्म, भक्ति और ज्ञानसे पूर्ण पुरुषोत्तम-योगके उदय होनेके पहले सद्गुणोंकी प्रभा बाहर प्रकट होने लगती है। परिपूर्ण जीवनकी इस आगामी प्रभाका वर्णन इस सोलहवें अध्यायमें किया गया है। किस अन्धकारसे झगड़कर यह प्रभा प्रकट होती है, उसका भी वर्णन इसमें किया गया है। किसी वस्तुको माननेके लिए हम कोई प्रत्यक्ष प्रमाण देखना चाहते हैं। सेवा, भक्ति और ज्ञान हमारे जीवनमें आ गये हैं, यह कैसे समझा जाय ? खेतपर हम मेहनत करते हैं, तो उसके फलस्वरूप अनाजकी फसल हम तौल-नापकर घर ले आते हैं। इसी तरह हम जो साधना करते हैं, उससे हमें क्या-क्या अनुभव हुए, कितनी सद्वृत्तियाँ गहरी पैठों, कितने सद्गुण प्रविष्ट हुए, जीवन सचमुच सेवामय कितना हुआ,—इसकी जाँच करनेकी ओर यह अध्याय संकेत करता है। जीवनकी कला कितनी ऊँची चढ़ी, इसे नापनेके लिए यह अध्याय है। जीवनकी इस वृद्धिमती कलाको गीता 'दैवी-संपत्ति' का नाम देती है। इसके विरुद्ध जो वृत्तियाँ हैं, उन्हें 'आसुरी' कहा है। सोलहवें अध्यायमें दैवी और आसुरी संपत्तियोंका संघर्ष बताया गया है।

८९. अहिंसाकी और हिंसाकी सेना

४. जिस तरह पहले अध्यायमें एक ओर कौरव-सेना और दूसरी ओर पाण्डव-सेना आमने-सामने खड़ी की है, उसी तरह यहाँ सद्गुणरूपी दैवी-सेना और दुर्गुणरूपी आसुरी-सेना एक-दूसरेके सामने खड़ी की है। बहुत प्राचीनकालसे मानवीय मनमें सदसत्-प्रवृत्तियोंका जो झगड़ा चलता है, उसका रूपकात्मक वर्णन करनेकी परिपाटी पड़ गयी है। वेदमें इंद्र और वृत्र, पुराणोंमें देव और दानव, वैसे ही राम और रावण, पारसियोंके

धर्मग्रन्थोंमें अहुरमज्द और अहरिमान, ईसाई मजहबमें प्रभु और शैतान, इसलाममें अल्लाह और इब्लीस—इस तरहके झगड़े सभी धर्मोंमें आते हैं। काव्यमें स्थूल और मोटे विषयोंका वर्णन सूक्ष्म वस्तुओंके रूपकोंके द्वारा किया जाता है, तो धर्मग्रन्थोंमें स्थूल मनोभावोंका वर्णन उन्हें ठोस स्थूलरूप देकर किया जाता है। काव्यमें सूक्ष्मका सूक्ष्मद्वारा वर्णन किया जाता है, तो यहाँ सूक्ष्मका स्थूलके द्वारा। इससे यह नहीं सुझाना है कि गीताके आरम्भमें युद्धका जो वर्णन है, वह केवल काल्पनिक है। हो सकता है कि वह ऐतिहासिक घटना हो, परन्तु कवि यहाँ उसका उपयोग अपने इष्ट हेतुको सिद्ध करनेके लिए कर रहा है। कर्तव्यके विषयमें जब मनमें मोह पैदा हो जाता है, तब मनुष्यको क्या करना चाहिए, यह बात युद्धके एक रूपकके द्वारा समझायी गयी है। इस सोलहवें अध्यायमें भलाई और बुराईका झगड़ा बताया गया है। गीतामें युद्धका रूपक भी दिया गया है।

५. कुरुक्षेत्र बाहर भी है और हमारे भीतर भी। बारीकीसे देखा जाय, तो जो झगड़ा हमारे मनमें होता है, वही हमें बाहरी जगत्में भूतिमान् दिखाई देता है। बाहर जो शत्रु खड़ा है, वह मेरे ही मनका विकार साकार होकर खड़ा है। दर्पणमें जिस प्रकार मेरा ही बुरा-भला प्रतिबिम्ब मुझे दीखता है, उसी तरह मेरे मनके बुरे-भले विचार मुझे बाहर शत्रु-मित्रके रूपमें दिखाई देते हैं। जैसे हम जागृतिकी ही बातें स्वप्नमें देखते हैं, वैसे ही जो हमारे मनमें हैं, वही हम बाहर देखते हैं। भीतरके और बाहरके युद्धमें कोई अन्तर नहीं है। सच पूछिये, तो असली युद्ध भीतर ही है।

६. हमारे अंतःकरणमें एक ओर सद्गुण, तो दूसरी ओर दुर्गुण खड़े हैं। उन्होंने अपनी-अपनी व्यूह-रचना व्यवस्थित कर रखी है। सेनामें जिस प्रकार सेनापति आवश्यक है, उसी प्रकार यहाँ भी सद्गुणोंने एक सेनापति बना रखा है। उसका नाम है—‘अभय’। इस अध्यायमें ‘अभय’ को पहला स्थान दिया गया है। यह कोई आकस्मिक बात नहीं है। जान-बूझकर ही इस ‘अभय’ शब्दको पहला स्थान दिया होगा। बिना

अभयके कोई भी गुण पनप नहीं सकता। सचाईके बिना सद्गुणका कोई मूल्य नहीं है, किन्तु सचाईके लिए निर्भयता आवश्यक है। भयभीत वातावरणमें सद्गुण फैल नहीं सकते; उल्टे उसमें वे भी दुर्गुण बन जायेंगे, सत्प्रवृत्तियाँ भी कमजोर पड़ जायँगी। निर्भयत्व सब सद्गुणोंका नायक है; परन्तु सेनाको आगा और पीछा, दोनों सँभालना पड़ता है। सीधा हमला तो सामनेसे होता है, परन्तु पीछेसे चुपचाप चोर-हमला भी हो सकता है। सद्गुणोंके सामने 'अभय' खम ठोंककर खड़ा है, तो पीछेसे 'नम्रता' रक्षा कर रही है। इस तरह यह बड़ी सुन्दर रचना की गयी है। यहाँ कुल छब्बीस गुण बताये गये हैं। इनमें पचीस गुण प्राप्त हो जायँ और यदि कहीं उसका अहंकार हो जाय, तो पीछेसे एकाएक चोर-हमलेसे सारी कमाई खो जानेका भय है। इसीलिए पीछे 'नम्रता' नामक सद्गुण रखा गया है। यदि नम्रता न हो, तो यह 'जय' कब पराजयमें परिणत हो जायगी, इसका पता भी नहीं चलेगा। इस तरह सामने 'निर्भयता' और पीछे 'नम्रता' को रखकर सब सद्गुणोंका विकास किया जा सकेगा। इन दो महान् गुणोंके बीच जो चौबीस गुण रखे गये हैं, वे सब अधिकतर अहिंसाके पर्यायवाची हैं, ऐसा कहा जा सकता है। भूत-दया, मार्दव, क्षमा, शांति, अक्रोध, अहिंसा, अद्रोह—ये सब अहिंसाके ही दूसरे नाम हैं। अहिंसा और सत्य, इन दो गुणोंमें इन सब सद्गुणोंका समावेश हो जाता है। सब सद्गुणोंका यदि संक्षेप किया जाय, तो अंतमें अहिंसा और सत्य, ये ही दो बाकी रह जायँगे। शेष सब सद्गुण इनके उदरमें समा जायँगे; परन्तु निर्भयता और नम्रताकी बात अलग है। निर्भयतासे प्रगति की जा सकती है और नम्रतासे बचाव होता है। सत्य और अहिंसा, इन दो गुणोंकी पूँजी लेकर निर्भयतापूर्वक आगे बढ़ना चाहिए। जीवन विशाल है। उसमें अनिरुद्ध संचार करते चले जाना चाहिए। पाँव गलत न पड़ जाय, इसके लिए सदा नम्र रहें, फिर कोई खतरा नहीं रह जाता। तब शौकसे सत्य-अहिंसाके प्रयोग सर्वत्र करते हुए आगे बढ़ सकते हैं। तात्पर्य यह कि सत्य और अहिंसाका विकास निर्भयता और नम्रताके द्वारा होता है।

७. एक ओर जहाँ सद्गुणोंकी फौज खड़ी है, वहाँ दूसरी ओर दुर्गुणोंकी भी फौज तैयार है। दम्भ, अज्ञान आदि दुर्गुणोंके सम्बन्धमें अधिक कहनेकी आवश्यकता नहीं है। इनसे हमारा नित्यका परिचय है। दम्भके तो जैसे हम आदी हो गये हैं। सारा जीवन ही मानो दम्भपर खड़ा किया गया है। अज्ञानके बारेमें क्या कहा जाय ! वह तो एक ऐसा मनोहर कारण बन गया है, जिसे हम पग-पगपर आगे कर देते हैं। मानो अज्ञान कोई बड़ा गुनाह ही न हो। परन्तु भगवान् कहते हैं—“अज्ञान पाप है।” सुकरातने इससे उलटा कहा था। अपने मुकदमेके दौरानमें उसने कहा—“जिसको तुम पाप समझते हो, वह अज्ञान है और अज्ञान क्षम्य है। अज्ञानके बिना पाप हो ही कैसे सकता है और अज्ञानको तुम दण्ड कैसे दोगे ?” परन्तु भगवान् कहते हैं—“अज्ञान भी पाप ही है।” कानूनका अज्ञान यह सफाईकी दलील नहीं हो सकती, ऐसा कानूनमें कहा है। ईश्वरीय कानूनका अज्ञान भी बहुत बड़ा अपराध है। भगवान्के और सुकरातके कथनका भावार्थ एक ही है। अपने अज्ञानकी ओर किस दृष्टिसे देखना चाहिए, यह भगवान् बताते हैं तो दूसरेके पापकी ओर किस दृष्टिसे देखना चाहिए, यह सुकरात बताता है। दूसरेके पापोंको क्षमा करना चाहिए, परन्तु अपने अज्ञानको क्षमा करना पाप है। अपना अज्ञान थोड़ा-सा भी शेष न रहने देना चाहिए !

९०. अहिंसाके विकासकी चार मंजिलें

८. इस तरह एक ओर दैवी संपत्ति और दूसरी ओर आसुरी संपत्ति—ऐसी दो सेनाएँ खड़ी हैं। इनमेंसे आसुरी संपत्तिको छोड़ना है और दैवीको पकड़ना है। सत्य, अहिंसा आदि दैवी गुणोंका विकास अनादि-कालसे होता आया है। बीचमें जो काल गया, उसमें भी बहुत-कुछ विकास हुआ है। तो भी अभी विकासके लिए बहुत गुंजाइश है। विकासकी मर्यादा समाप्त हो गयी हो, सो बात नहीं। जबतक हमें सामाजिक शरीर प्राप्त है, तबतक विकासके लिए हमें अनन्त अवकाश है। वैयक्तिक विकास हो जाय, फिर भी सामाजिक, राष्ट्रीय, जागतिक विकास शेष रहता ही है। व्यक्तिको अपने विकासकी खाद देकर फिर समाज,

राष्ट्रके लाखों व्यक्तियोंके विकासकी शुरुआत करनी होती है। मानवद्वारा अहिंसाका विकास अनादिकालसे हो रहा है, तो भी आज वह विकास-क्रिया जारी ही है।

९. अहिंसाका विकास किस तरह होता आया है, यह देखने लायक है। उससे यह समझमें आ जायगा कि पारमार्थिक जीवनका विकास उत्तरोत्तर किस तरह हो रहा है और उसे अभी कितना अवसर है। पहले अहिंसक मानव यह विचार करने लगा कि हिंसक लोगोंके हमलेसे कैसे बचाव किया जाय। शुरूमें समाजकी रक्षाके लिए क्षत्रिय-वर्ग बनाया गया; परन्तु वह आगे चलकर समाज-भक्षण करने लगा। तब अहिंसक ब्राह्मण यह विचार करने लगे कि इन उन्मत्त क्षत्रियोंसे समाजका बचाव कैसे किया जाय? परशुरामने स्वयं अहिंसक होकर भी हिंसाका अवलंबन किया। वे क्षत्रियोंका विनाश करने लगे। क्षत्रिय हिंसा छोड़ दें, इसलिए वे स्वयं हिंसक बने। यह अहिंसाका ही प्रयोग था, परन्तु सफल नहीं हुआ। उन्होंने इक्कीस बार क्षत्रियोंका संहार किया, फिर भी क्षत्रिय बच ही रहे, क्योंकि यह प्रयोग मूलमें ही गलत था। जिन क्षत्रियोंको नष्ट करने वे चले थे, उनमें एक और क्षत्रियकी वृद्धि उन्होंने की; तो फिर वह क्षत्रियवर्ग नष्ट कैसे होता? वे स्वयं ही हिंसक क्षत्रिय बन गये। वह बीज तो कायम ही रहा। बीजको कायम रखकर पेड़ोंको काटनेवालेको वे पेड़ पुनः-पुनः पैदा हुए ही दीखेंगे। परशुराम थे भले आदमी, परन्तु उनका प्रयोग बड़ा विचित्र हुआ। स्वयं क्षत्रिय बनकर वे पृथ्वीको निःक्षत्रिय बनाना चाहते थे। वस्तुतः उन्हें अपनेसे ही प्रयोग शुरू करना चाहिए था। उन्हें चाहिए था कि पहले वे अपना ही सिर उड़ा देते। मैं जो यहाँ परशुरामका दोष दिखा रहा हूँ, उसका यह अर्थ नहीं कि मैं उनसे ज्यादा बुद्धिमान हूँ। मैं तो बच्चा हूँ, परन्तु उनके कन्धेपर खड़ा हूँ, इससे मुझे अनायास ही अधिक दूरका दिखाई देता है। परशुरामके प्रयोगका आधार ही गलत था। हिंसामय होकर हिंसा दूर करना सम्भव नहीं। इससे उल्टे हिंसकोंकी संख्या ही बढ़ती है। परन्तु उस समय यह बात ध्यानमें नहीं आयी। उस समयके भले-भले आदमियों-

ने, परम अहिंसामय व्यक्तियोंने, जैसा उन्हें सूझा, प्रयोग किया। परशुराम उस कालके महान् अहिंसावादी थे। हिंसाके उद्देश्यसे उन्होंने हिंसा नहीं की। अहिंसाकी स्थापनाके लिए उन्होंने हिंसा की।

१०. वह प्रयोग असफल हो गया। बादमें रामका युग आया। उस समय फिर ब्राह्मणोंने विचार शुरू किया। उन्होंने हिंसा छोड़ दी थी और यह निश्चय किया था कि हम स्वयं हिंसा करेंगे ही नहीं। तब राक्षसोंके आक्रमणोंसे बचाव कैसे हो ? उन्होंने सोचा कि ये क्षत्रिय हिंसा करनेवाले तो हैं ही, इन्हींसे राक्षसोंका संहार करा डालना चाहिए। काँटेसे काँटा निकाल डालना चाहिए। हम स्वतः दूर रहें। अतः विश्वामित्रने यज्ञ-रक्षणार्थ राम-लक्ष्मणको ले जाकर उनके द्वारा राक्षसोंका संहार करवाया। आज हम ऐसा सोचते हैं कि “जो अहिंसा स्व-संरक्षित नहीं है, जिसके पाँव नहीं हैं, ऐसी लँगड़ी-लूली अहिंसा खड़ी कैसे रहेगी ?” परन्तु वशिष्ठ, विश्वामित्र जैसोंको क्षत्रियोंके बलपर अपनी रक्षा करा लेनेमें कोई दोष या त्रुटि नहीं मालूम हुई। परन्तु यदि रामके जैसा क्षत्रिय न मिला होता तो ? विश्वामित्र कहते हैं—“मैं भले ही मर जाऊँ, पर हिंसा नहीं करूँगा।” क्योंकि हिंसक बनकर हिंसा दूर करनेका प्रयोग हो चुका था। अब इतना तो निश्चय हो ही चुका था कि स्वयं अहिंसा नहीं छोड़ेंगे—यदि कोई क्षत्रिय नहीं मिला, तो अहिंसक व्यक्ति मर जाना पसन्द करेंगे—यह भूमिका अब तैयार हो चुकी थी। अरण्यकांडमें एक प्रसंग है। राम पूछते हैं—“ये ढेर किस चीजके हैं ?” ऋषि कहते हैं—“ये ब्राह्मणोंकी हड्डियोंके ढेर हैं। अहिंसक ब्राह्मणोंने आक्रमणकारी हिंसक राक्षसोंका प्रतिकार नहीं किया। वे मर मिटे। उन्हींकी हड्डियोंके ये ढेर हैं।” इस अहिंसामें ब्राह्मणोंका त्याग तो था; परन्तु साथ ही दूसरोंसे अपने संरक्षणकी अपेक्षा भी वे रखते थे। ऐसी कमजोरीसे अहिंसा पूर्णताको नहीं पहुँच सकती थी।

११. संतों आगे चलकर तीसरा प्रयोग किया। उन्होंने निश्चय किया—“हम अपने बचावके लिए दूसरोंकी सहायता कदापि नहीं लेंगे।

हमारी अहिंसा ही हमारा बचाव करेगी। ऐसा बचाव ही सच्चा बचाव होगा।” सन्तोंका यह प्रयोग व्यक्तिनिष्ठ था। इस व्यक्तिगत प्रयोगको उन्होंने पूर्णतातक पहुँचा दिया, परन्तु रहा यह व्यक्तिगत ही। समाजपर यदि हिंसक लोगोंके हमले होते और समाज संतोंसे आकर पूछता कि “अब क्या करें?” तो शायद संत उसका निश्चित उत्तर न दे पाते। व्यक्तिगत जीवनमें परिपूर्ण अहिंसाका पालन करनेवाले वे संत समाजसे यही कहते—“भाई, हम निर्बल हैं।” संतोंकी यह कमी बताना मेरा बाल-साहस होगा, परन्तु उनके कंधेपर बैठकर मुझे जो कुछ दीखता है, वही मैं बता रहा हूँ। वे मुझे इसके लिए क्षमा करें और वे कर भी देंगे, क्योंकि उनकी क्षमा महान् है। अहिंसाके साधनोंसे सामूहिक प्रयोग करनेकी उन्हें प्रेरणा नहीं हुई, ऐसा तो कह नहीं सकते; लेकिन उस समयकी परिस्थिति उन्हें शायद अनुकूल न लगी हो। उन्होंने अपने लिए अलग-अलग प्रयोग किये; परन्तु ऐसे पृथक्-पृथक् किये हुए प्रयोगोंसे ही शास्त्रकी रचना होती है। सम्मिलित अनुभवोंसे शास्त्र बनता है।

१२. संतोंके व्यक्तिगत प्रयोगके बाद आज हम चौथा प्रयोग कर रहे हैं। वह है—सारा समाज मिलकर अहिंसात्मक साधनोंसे हिंसाका प्रतिकार करे। इस तरह चार प्रयोग अबतक हुए हैं। प्रत्येक प्रयोगमें अपूर्णता थी और है। विकास-क्रममें यह बात अपरिहार्य ही है। परन्तु यह तो कहना ही होगा कि उस-उस कालके लिए वे-वे प्रयोग पूर्ण ही थे और दस हजार सालके बाद आजके इस हमारे अहिंसक युद्धमें भी बहुत-कुछ हिंसाका अंश दिखाई देगा। शुद्ध अहिंसाके और प्रयोग होते ही रहेंगे। ज्ञान, कर्म और भक्तिका ही नहीं, सभी सद्गुणोंका विकास हो रहा है। पूर्ण वस्तु एक ही है। वह है परमात्मा। भगवद्गीताका पुरुषोत्तम-योग पूर्ण है, परन्तु व्यक्ति और समुदायके जीवनमें अभी उनका पूर्ण विकास होना बाकी है। वचनोंका भी विकास होता है। ऋषि मन्त्रोंके द्रष्टा समझे जाते थे, कर्ता नहीं; क्योंकि उन्हें मन्त्रोंका जो अर्थ दीखा, वही उसका अर्थ हो, सो बात नहीं। उन्हें उनका एक दर्शन हुआ। उसके बाद हमें उसका और विकसित अर्थ दीख सकता है।

उनसे यदि हमें कुछ अधिक दीख जाता है, तो यह हमारी विशेषता नहीं है, क्योंकि उन्हींके आधारपर हम आगे बढ़ते हैं। मैं यहाँ अहिंसाके ही विकासकी जो बात कर रहा हूँ, वह इसलिए कि यदि हम सब सद्गुणोंका साधारण रूपसे सार निकालें, तो वह अहिंसा ही निकलेगा; और दूसरे, हम आज अहिंसात्मक युद्धमें ही पड़े हुए हैं। इस तरह हमने देखा कि इस तत्त्वका विकास कैसे हो रहा है।

११. अहिंसाका एक महान् प्रयोग : मांसाहार-परित्याग

१३. अबतक हमने अहिंसाका एक यह पहलू देखा कि यदि हिंसकोंके हमले हों, तो अहिंसक अपना बचाव कैसे करें। व्यक्तियोंके पारस्परिक झगड़ोंमें अहिंसाका विकास किस तरह हो रहा है, यह हमने देखा। किन्तु झगड़ा तो मनुष्य और पशुओंमें भी हो रहा है। मनुष्य अभीतक अपने आपसके झगड़े मिटा नहीं पाया। पशुको पेटमें ठूसकर वह जी रहा है! अपने झगड़े वह अभीतक मिटा नहीं पाया, अपनेसे हीन कोटिके दुर्बल पशुओं—जीवों—को खाये बिना वह जी नहीं सकता। हजारों वर्ष जीकर भी किस तरह जीयें, इसका विचार अभीतक मनुष्यने नहीं किया। मनुष्यको मनुष्यकी तरह जीना आता नहीं; परन्तु अब इस बातका भी विकास हो रहा है। आदिमानव शायद कंद-मूल-फलाहारी ही होगा। लेकिन बादमें दुर्मतिवश बहुत-सा मानव-समाज मांसाहारी बना। जो उत्तम और बुद्धिमान् व्यक्ति थे, उन्हें यह नहीं जँचा। उन्होंने यह प्रतिबन्ध लगाया कि यदि मांस ही खाना हो, तो यज्ञमें बलि दिये पशुओंका ही मांस खाना चाहिए। इसमें हेतु यह था कि हिंसा रुके। बहुतोंने तो पूर्ण रूपसे मांस छोड़ दिया; परन्तु जो पूर्णतः मांस नहीं छोड़ सकते थे, उन्हें यह अनुमति दी गयी कि वे उसे यज्ञमें परमेश्वरको अर्पण कर, कुछ तपस्या करें, तब खायें। उस समय यह माना गया था कि 'यज्ञमें ही मांस खा सकते हैं'—ऐसा प्रतिबन्ध लगा देनेसे हिंसा रुक जायगी; परन्तु बादमें यज्ञ एक सामान्य-क्रम बन गया। ऐसा होने लगा कि जो चाहता, यज्ञ करता और मांस खाता। तब भगवान् बुद्ध आगे आये। उन्होंने कहा—“तुम्हें मांस खाना हो तो खाओं, परन्तु भगवान्का

नाम लेकर तो मत खाओ !” इन दोनों वचनोंका हेतु एक ही था—हिंसाकी रोक हो, गाड़ी किसी-न-किसी तरह संयमके मार्गपर आये। यज्ञ-याग करो या न करो—दोनोंसे हमने मांसाशनका त्याग ही सीखा। इस तरह हम धीरे-धीरे मांस-भक्षण छोड़ते गये।

१४. संसारके इतिहासमें अकेले भारतवर्षमें ही यह महान् प्रयोग हुआ। करोड़ों लोगोंने मांस खाना छोड़ दिया। आज हम मांस नहीं खाते हैं, इसमें हमारा कोई बड़प्पन नहीं है। पूर्वजोंकी पुण्याईसे हम इसके आदी हो गये हैं। परन्तु पहलेके ऋषि मांस खाते थे, ऐसा यदि हम पढ़ें या सुनें, तो हमें आश्चर्य मालूम होता है। “क्या बकते हो ? ऋषि मांस खाते थे ? कभी नहीं।” परन्तु मांसाशन करते हुए उन्होंने संयम करके उसका त्याग किया, इसका श्रेय उन्हें है। उन कष्टोंका अनुभव आज हमें नहीं होता। उनकी पुण्याई मुफ्तमें हमें मिल गयी।

पहले वे मांसाशन करते थे और आज हम नहीं करते, इसका अर्थ यह नहीं कि हम आज उनसे बड़े हो गये हैं। उनके इस अनुभवका लाभ हमें अनायास ही मिल गया है। हमें उनके इस अनुभवका विकास करना चाहिए। हमें दूध बिलकुल ही छोड़ देनेका प्रयोग करना चाहिए। मनुष्य अन्य जीवोंका दूध पीये, यह बात भी तो हीनताकी है। दस हजार वर्ष बाद लोग हमारे विषयमें कहेंगे—“क्यों, हमारे पूर्वजोंको दूध न पीनेका व्रत लेना पड़ा था ? राम-राम, वे दूध कैसे पीते होंगे ? ऐसे थे वे जंगली !” सारांश यह कि हमें निडर होकर, नम्रतापूर्वक अपने प्रयोग करते हुए निरन्तर आगे बढ़ते जाना चाहिए। सत्यका क्षितिज विशाल करते जाना चाहिए। विकासके लिए अभी पर्याप्त अवकाश है। किसी भी गुणका पूर्ण विकास नहीं हो पाया।

१२. आसुरी सम्पत्तिकी तिहरी महत्त्वाकांक्षा :

सत्ता, संस्कृति और सम्पत्ति

१५. हमें दैवी संपत्तिका विकास करना है और आसुरी संपत्तिसे दूर रहना है। आसुरी सम्पत्तिका वर्णन भगवान् ने इसीलिए किया है कि उससे दूर रह सकें। इसमें कुल तीन बातें मुख्य हैं। असुरोंके चरित्रका

सार 'सत्ता, संस्कृति और सम्पत्ति' में है। वे कहते हैं—एक हमारी ही संस्कृति उत्कृष्ट है और उनकी महत्त्वाकांक्षा होती है कि वही सारे संसारपर लादी जाय। हमारी ही संस्कृति क्यों लादी जाय ? तो कहते हैं—'वही सबसे अच्छी है।' 'अच्छी क्यों है ?' 'क्योंकि वह 'हमारी' है।' चाहे आसुरी व्यक्ति हों, चाहे असुरोंसे बने साम्राज्य हों, वे इन तीन चीजोंका आग्रह रखते हैं।

१६. ब्राह्मण भी तो ऐसा ही समझते हैं कि हमारी संस्कृति सर्वश्रेष्ठ है। सारा ज्ञान हमारे वेदोंमें भरा हुआ है। वैदिक संस्कृतिकी विजय सारे संसारमें होनी चाहिए। अग्रतश्चतुरो वेदान् पृष्ठतः सशरं धनुः—इस तरह सज्ज होकर सारी पृथ्वीपर अपनी संस्कृतिका झंडा फहराओ। परन्तु पीठपर जहाँ 'सशरं धनुः' रहा, तो फिर आगे हाथमें रखे बेचारे वेदोंकी समाप्ति ही समझिये। मुसलमान भी तो ऐसा ही समझते हैं कि कुरानशरीफमें जितना कुछ लिखा है, वही सच है। ईसाई भी ऐसा ही मानते हैं। अन्य धर्मका मनुष्य कितना ही उच्च कोटिका क्यों न हो, उसे जबतक ईसामसीहपर विश्वास नहीं हो जाता, तबतक उसे स्वर्ग मिलनेवाला नहीं। भगवान्‌के मंदिरका उन्होंने केवल एक ही दरवाजा रखा है, वह है ईसामसीहवाला। लोग तो अपने घरोंमें अनेक दरवाजे और खिड़कियाँ लगाते हैं, परन्तु बेचारे भगवान्‌के मंदिरमें केवल एक ही दरवाजा रखते हैं।

१७. आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।

—'मैं ही कुलीन हूँ, मैं ही श्रीमंत हूँ, मेरे जोड़का दूसरा कौन है ?'

सब यही मानते हैं। मैं कौन ? भारद्वाज-कुलका। मेरी यह परम्परा अबाधित रूपसे चल रही है। यही हाल पश्चिमी लोगोंका है। कहते हैं, हमारी नसोंमें नार्मन सरदारोंका रक्त बहता है ! हमारे यहाँ गुरुपरम्परा है न ? मूल आदिगुरु हैं शंकर। फिर ब्रह्मदेव या और कोई, फिर नारद, व्यास, फिर कोई और ऋषि, फिर बीचमें दस-पाँच नाम आते हैं, बादमें अपने गुरुका नाम और फिर मैं—ऐसी परम्परा बतायी जाती है। इस वंशावलिसे यह सिद्ध किया जाता है कि हम श्रेष्ठ, हमारी संस्कृति

श्रेष्ठ । भाई, यदि आपकी संस्कृति सचमुच ही श्रेष्ठ है, तो उसे अपने आचरणमें दीखने दो न ! अपने जीवनमें उसकी प्रभा फैलने दो न ! परन्तु ऐसा नहीं होता । जो संस्कृति स्वयं हमारे जीवनमें नहीं है, हमारे घरमें नहीं है, उसे संसारभरमें फैलानेकी आकांक्षा रखना—इस विचार-पद्धतिको 'आसुरी' कहते हैं ।

१८. फिर जैसे मेरी संस्कृति सुन्दर है, वैसे ही यह विचार है कि संसारकी सारी सम्पत्ति रखनेके योग्य भी मैं ही हूँ । संसारकी सारी संपत्ति मुझे चाहिए और मैं उसे प्राप्त करूँगा ही । वह संपत्ति किसलिए प्राप्त करनी है ? तो, सबमें समान रूपसे बाँटनेके लिए । इसके लिए मैं स्वतः अपनेको धन-सम्पत्तिमें गाड़ लेता हूँ । अकबरने यही तो कहा था—“ये राजपूत अभी मेरे साम्राज्यमें क्यों नहीं दाखिल होते ? एक साम्राज्य बनेगा, तो शांति स्थापित होगी ।” वह प्रामाणिक रूपसे ऐसा मानता था । वर्तमान असुरोंकी भी ऐसी धारणा है कि सारी सम्पत्ति बटोरना है । क्यों ? उसे फिर सबमें बाँटनेके लिए !

१९. उसके लिए मुझे सत्ता चाहिए । सारी सत्ता एक हाथमें केन्द्री-भूत होनी चाहिए । सारी दुनिया मेरे तन्त्रमें आ जानी चाहिए । स्व-तंत्र—मेरे तंत्र—के अनुसार चलनी चाहिए । जो मेरे अधीन होगा, जो मेरे तंत्रके अनुसार चलेगा, वही स्वतन्त्र । इस तरह संस्कृति, सत्ता और सम्पत्ति—इन तीन मुख्य बातोंपर आसुरी संपत्तिमें जोर दिया जाता है ।

२०. एक समय ऐसा था, जब समाजमें ब्राह्मणोंका प्रभुत्व था । शास्त्र वे लिखते, कानून वे बनाते, राजा उनके समक्ष नतमस्तक होते । वह युग बदला । क्षत्रियोंका युग आया । घोड़े छोड़े जाने लगे, दिग्विजय किये जाने लगे । यह क्षत्रिय-संस्कृति भी आयी और चली गयी । ब्राह्मण कहता—“मैं विद्या देनेवाला, दूसरे लेनेवाले, मेरे सिवा गुरु कौन ?” ब्राह्मणोंको अपनी संस्कृतिका अभिमान था । क्षत्रियोंका जोर सत्तापर था—“आज इसे मारा, कल उसे मारूँगा ।” इस बातपर उनका सारा जोर रहता था ! फिर वैश्योंका युग आया । “पीठपर मारो, पर पेटपर मत मारो !” इसमें वैश्योंका सारा तत्त्वज्ञान है, पेटकी सारी अक्ल ! “यह

घन मेरा और वह भी मेरा हो जायगा”—यही जप और यही संकल्प ! अंग्रेज हमें कहते हैं न—“स्वराज्य चाहिए तो ले लो, परन्तु हमारा तैयार माल बेचनेकी सुविधा, सहुलियतें हमें दे दो, फिर भले ही अपनी संस्कृतिका अध्ययन करते रहो । लँगोटी लगाओ और अपनी संस्कृतिको लिये बैठे रहो ।” आजकल जो युद्ध होते हैं, वे व्यपारके लिए ही होते हैं । यह युग भी जायगा, जानेका आरम्भ भी हो गया है । इस तरह ये सब आसुरी संपत्तिके प्रकार हैं ।

१३. काम-क्रोध-लोभ-मुक्तिका शास्त्रीय संयम-मार्ग

२१. हम आसुरी संपत्तिको दूर हटाते रहें । संक्षेपमें कहें,—तो आसुरी संपत्तिका अर्थ है—“काम, क्रोध, लोभ ।” ये ही तीनों सारे संसारको नचा रहे हैं । अब इस नृत्यको समाप्त करो । हमें यह छोड़ देना ही चाहिए । क्रोध और लोभ कामसे पैदा होते हैं । कामके अनुकूल परिस्थिति उत्पन्न होनेसे लोभ पैदा होता है और प्रतिकूलता आनेसे क्रोध । गीतामें पद-पदपर यह कहा है कि इन तीनोंसे बचते रहो । सोलहवें अध्यायमें अन्तमें यही कहा है—काम, क्रोध और लोभ, ये ही नरकके तीन बड़े द्वार हैं । इनमें बहुत बड़ा आवागमन होता है । अनेक लोग आते-जाते हैं । नरकका रास्ता खूब चौड़ा है । उसमें मोटरें चलती हैं, बहुतेरे साथी भी रास्तेमें मिल जाते हैं; परन्तु सत्यकी राह सँकरी है ।

२२. तो अब इन काम, क्रोध, लोभसे बचें कैसे ? संयम-मार्ग अंगीकार करके । शास्त्रीय संयमका पल्ला पकड़ लेना चाहिए । सन्तोंका अनुभव ही शास्त्र है । प्रयोगद्वारा जो अनुभव सन्तोंको हुए, उन्हींसे शास्त्र बनता है । इस संयम-सिद्धान्तका हाथ पकड़ो । व्यर्थकी शंका-कुशंका मत रखो । कृपा करके ऐसा तर्क, ऐसी शंका मत लाइये कि यदि काम-क्रोध उठ गये, तो फिर संसारका क्या हाल होगा, वह तो चलना ही चाहिए; क्या थोड़ेसे भी काम-क्रोध न रहने चाहिए ? भाइयो, काम-क्रोध पहलेसे ही भरपूर हैं । आपको जितने चाहिए, उससे भी कहीं अधिक हैं । फिर क्यों व्यर्थमें बुद्धि-भेद पैदा करते हैं ? काम, क्रोध, लोभ आपकी इच्छासे रत्तीभर अधिक ही हैं । यह चिन्ता न करें कि काम मर जायगा, तो संतति कैसे

पैदा होगी ? आप चाहे कितनी ही संतति पैदा करें, एक दिन ऐसा आनेवाला है, जब पृथ्वीपरसे मनुष्यका नाम सर्वथा मिट जायगा । ऐसा वैज्ञानिकोंका कहना है । पृथ्वी धीरे-धीरे ठंडी होती जा रही है । एक समय पृथ्वी अत्यन्त उष्ण थी । तब उसपर जीवधारी नहीं रहते थे । जीव पैदा ही नहीं हुआ था । एक समय ऐसा आ जायगा कि पृथ्वी अत्यन्त ठंडी हो जायगी और सारी जीव-सृष्टिका लय हो जायगा । इस बातमें लाखों वर्ष लग जायेंगे । आप कितनी ही संतान-वृद्धि क्यों न करें, अन्तमें प्रलय निश्चित है । परमेश्वर जो अवतार लेता है, सो धर्म-संरक्षणके लिए, संख्या-संरक्षणके लिए नहीं । जबतक एक भी धर्मपरायण मनुष्य है, एक भी पापभीरु और सत्यनिष्ठ मनुष्य है, तबतक कोई चिन्ता नहीं । उसकी ओर ईश्वरकी दृष्टि बनी रहेगी । जिनका धर्म मर चुका है, ऐसे हजारों लोगोंका जीवित रहना, न रहना बराबर है ।

२३. इन सब बातोंपर ध्यान रखकर सृष्टिमें ढंगसे रहिये, संयमसे चलिये । मनमानी न कीजिये । 'लोक-संग्रह' का अर्थ यह नहीं कि लोग जैसा कहें, वैसा किया जाय । मनुष्योंका संघ बढ़ते जाना, सम्पत्तिका ढेर इकट्ठा करते जाना—इसे सुधार नहीं कहते । विकास संख्यापर अवलम्बित नहीं है । समाज यदि बेशुमार बढ़ने लगेगा, तो लोग एक-दूसरेका खून करने लग जायेंगे । पहले पशु-पक्षियोंको खाकर मनुष्य मत्त बनेगा; फिर अपने बालबच्चोंको खाने लगेगा । काम-क्रोधमें सार है, यह बात यदि मान लें, तो फिर अन्तमें मनुष्य मनुष्यको फाड़ खायेगा, इसमें तिलमात्र सन्देह नहीं है । लोक-संग्रहका अर्थ है, सुन्दर और विशुद्ध नीति-मार्ग लोगोंको दिखाना । काम-क्रोधसे मुक्त हो जानेपर यदि पृथ्वीसे मनुष्यका लोप हो जायगा, तो वह मंगल (ग्रह) में उत्पन्न हो जायगा । आप चिन्ता न करें । अव्यक्त परमात्मा सब जगह व्याप्त है । वह हमारी चिन्ता कर लेगा । अतः पहले हम मुक्त हो लें । आगे बहुत दूर देखनेकी जरूरत नहीं है । सारी सृष्टि और मानव-जातिकी चिन्ता न करो । तुम अपनी नैतिक शक्ति बढ़ाओ, काम-क्रोधका पल्ला झाड़कर फेंक दो । **आपुला तूं गळा घेई उगवूनि ।**—पहले अपना गला तो छुड़ा लो ! तुम्हारी गर्दन जो फँसी है, पहले उसे बचाओ । इतना कर लें, तो बड़ा काम बने ।

२४. संसार-समुद्रसे दूर किनारे खड़े रहकर समुद्रकी मौज देखनेमें आनन्द है। जो समुद्रमें डूब रहा है, जिसकी आँख-नाकमें पानी भर रहा है, उसे समुद्रका क्या आनन्द है ? सन्त समुद्र-तटपर खड़े रहकर आनन्द लूटते हैं। संसारसे अलिप्त रहनेकी इस सन्त-वृत्तिका जीवनमें संचार हुए बिना आनन्द नहीं। अतः कमल-पत्रकी तरह अलिप्त रहो। बुद्धने कहा है—“सन्त ऊँचे पर्वतके शिखरपर खड़े रहकर नीचे संसारकी ओर देखते हैं, तब उन्हें संसार क्षुद्र मालूम होता है।” आप भी ऊपर चढ़कर देखिये, तो फिर यह विशाल विस्तार क्षुद्र दिखाई देगा। फिर संसारमें मन ही नहीं लगेगा।

सारांश, भगवान्ने इस अध्यायमें आग्रहपूर्वक कहा है कि आसुरी सम्पत्तिको हटाकर दैवी सम्पत्ति प्राप्त करो। आइये, हम ऐसा ही यत्न करें।

रविवार ५-६-३२

परिशिष्ट २

१७. साधकका कार्यक्रम

९४. सुव्यवस्थित व्यवहारसे वृत्ति मुक्त रहती है

१. प्यारे भाइयो, हम धीरे-धीरे अन्ततक पहुँचते आ रहे हैं। पन्द्रहवें अध्यायमें हमने जीवनके सम्पूर्ण शास्त्रका अवलोकन किया। सोलहवें अध्यायमें एक परिशिष्ट देखा। मनुष्यके मनमें और उसके मनके प्रति-बिम्बस्वरूप समाजमें, दो वृत्तियों, दो संस्कृतियों अथवा दो सम्पत्तियोंका झगड़ा चल रहा है। इनमेंसे हमें दैवी सम्पत्तिका विकास करना चाहिए, यह शिक्षा सोलहवें अध्यायके परिशिष्टसे मिली है। आज सबहमें

अध्यायमें हमें दूसरा परिशिष्ट देखना है। एक दृष्टिसे कह सकते हैं कि इसमें कार्य-क्रम-योग कहा गया है। गीता इस अध्यायमें रोजके कार्यक्रम-की सूचना दे रही है। आजके अध्यायमें हमें नित्य-क्रियापर विचार करना है।

२. अगर हम चाहते हैं कि हमारी वृत्ति मुक्त और प्रसन्न रहे, तो हमें अपने व्यवहारका एक क्रम बाँध लेना चाहिए। हमारा नित्यका कार्यक्रम किसी-न-किसी निश्चित आधारपर चलना चाहिए। मन तभी मुक्त रह सकता है, जब कि हमारा जीवन उस मर्यादामें और एक निश्चित नियमित रीतिसे चलता रहे। नदी स्वच्छन्दतासे बहती है; परन्तु उसका प्रवाह बँधा हुआ है। यदि वह बद्ध न हो, तो उसकी मुक्तता व्यर्थ चली जायगी। ज्ञानी पुरुषका उदाहरण अपनी आँखोंके सामने लाओ। सूर्य ज्ञानी पुरुषोंका आचार्य है। भगवान् ने पहले-पहल कर्मयोग सूर्यको दिखाया, फिर सूर्यसे मनुको, अर्थात् विचार करनेवाले मनुष्यको, वह प्राप्त हुआ। सूर्य स्वतन्त्र और मुक्त है। वह नियमित है—इसीमें उसकी स्वतन्त्रताका सार है। यह हमारे अनुभवकी बात है कि हमें एक निश्चित रास्तेसे घूमने जानेकी आदत है, तो रास्तेकी ओर ध्यान न देते हुए भी मनसे विचार करते हुए हम घूम सकते हैं। यदि घूमनेके लिए हम रोज-रोज नये रास्ते निकालते रहेंगे, तो सारा ध्यान उन रास्तोंमें ही लगाना पड़ेगा। फिर मनको मुक्तता नहीं मिल सकती। सारांश यह कि हमें अपना व्यवहार इसीलिए बाँध लेना चाहिए कि जीवन एक बोझ-सा नहीं, बल्कि आनन्दमय प्रतीत हो।

३. इसलिए भगवान् इस अध्यायमें कार्यक्रम बता रहे हैं। हम तीन संस्थाएँ साथ लेकर ही जन्म लेते हैं। मनुष्य इन तीनों संस्थाओंका कार्य भलीभाँति चलाकर अपना संसार सुखमय बना सके, इसीलिए गीता यह कार्यक्रम बताती है। वे तीन संस्थाएँ कौन-सी हैं? पहली संस्था है—हमारे आसपास लिपटा हुआ यह शरीर। दूसरी संस्था है—हमारे आसपास फैला हुआ यह विशाल ब्रह्मांड—यह अपार सृष्टि, जिसके हम एक अंश हैं। जिसमें हमारा जन्म हुआ वह समाज, हमारे जन्मकी प्रतीक्षा

करनेवाले वे माता-पिता, भाई-बहन, अड़ोसी-पड़ोसी—यह हुई तीसरी संस्था। हम रोज इन तीन संस्थाओंका उपयोग करते हैं—इन्हें छिजाते हैं। गीता चाहती है कि हमारे द्वारा इन संस्थाओंमें जो छीजन आती है, उसकी पूर्तिके लिए हम सतत प्रयत्न करें और अपना जीवन सफल बनायें। इन संस्थाओंके प्रति हमारा यह जन्मजात कर्तव्य हमें निरहङ्कार भावनासे करना चाहिए।

इन कर्तव्योंको पूरा तो करना है; परन्तु उसकी पूर्तिकी योजना क्या हो? यज्ञ, दान और तप—इन तीनोंके योगसे ही वह योजना बनती है। यद्यपि इन शब्दोंसे हम परिचित हैं, तो भी इनका अर्थ हम अच्छी तरह नहीं समझते। अगर हम इनका अर्थ समझ लें और इन्हें अपने जीवनमें समाविष्ट करें, तो ये तीनों संस्थाएँ सफल हो जायँ और हमारा जीवन भी मुक्त और प्रसन्न रहे।

९५. उसके लिए त्रिविध क्रियायोग

४. इस अर्थको समझनेके लिए पहले हम यह देखें कि 'यज्ञ' का अर्थ क्या है। सृष्टि-संस्थासे हम प्रतिदिन काम लेते हैं। सौ आदमी यदि एक जगह रहते हैं, तो दूसरे दिन वहाँकी सारी सृष्टि दूषित हुई दिखाई देती है। वहाँकी हवा हम दूषित कर देते हैं, जगह गंदी कर देते हैं। अन्न खाते हैं और सृष्टिको भी छिजाते हैं। सृष्टि-संस्थाकी इस छीजनकी हमें पूर्ति करनी चाहिए। इसीलिए यज्ञ-संस्थाका निर्माण हुआ है।

यज्ञका उद्देश्य क्या है? सृष्टिकी जो हानि हो गयी है, उसे पूरा करना। आज हजारों वर्षोंसे हम जमीन जोतते आ रहे हैं, उससे जमीनका कस कम होता जा रहा है। यज्ञ कहता है—“पृथ्वीको उसका कस वापस लौटा दो, जमीनमें हल चलाओ, उसमें सूर्यकी रोशनी पैठने दो। उसमें खाद डालो।” छीजनकी पूर्ति करना, यह है यज्ञका एक हेतु। दूसरा हेतु है, उपयोगमें लायी हुई वस्तुओंका शुद्धीकरण। हम कुँएँका उपयोग करते हैं, जिससे आसपास गंदगी हो जाती है, पानी इकट्ठा हो जाता है। कुँएँके पासकी यह सृष्टि जो खराब हो गयी है, उसे शुद्ध करना चाहिए। वहाँका गंदा पानी निकाल डालना चाहिए। कीचड़ दर

कर देना चाहिए। क्षति-पूर्ति करने और सफाई करनेके साथ ही वहाँ कुछ प्रत्यक्ष निर्माण-कार्य भी करना चाहिए—यह तीसरी बात भी यज्ञके अन्तर्गत है। हमने कपड़ा पहना, तो हमें चाहिए कि रोज सूत कातकर फिर नव-निर्माण करें। कपास पैदा करना, अनाज उत्पन्न करना, सूत कातना, यह भी यज्ञ-क्रिया ही है। यज्ञमें जो कुछ निर्माण करना है, वह स्वार्थके लिए नहीं, बल्कि हमने जो क्षति की है, उसे पूरा करनेकी कर्तव्य-भावनासे वह होना चाहिए। यह परोपकार नहीं है। हम तो पहलेसे ही कर्जदार हैं! जन्मतः ही अपने सिरपर ऋण लेकर हम आते हैं। इस ऋणको चुकानेके लिए हमें जो कुछ निर्माण करना है, वह यज्ञ अर्थात् सेवा है, परोपकार नहीं। उस सेवासे हमें अपना ऋण चुकाना है। हम पद-पदपर सृष्टि-संस्थाका उपयोग करते हैं। अतः उस हानिकी पूर्ति करनेके लिए, उसकी शुद्धि करनेके लिए और नवीन वस्तु उत्पन्न करनेके लिए हमें यज्ञ करना होता है।

५. दूसरी संस्था है, हमारा मनुष्य-समाज। माँ-बाप, गुरु, मित्र, ये सब हमारे लिए मेहनत करते हैं। समाजका यह ऋण चुकानेके लिए दानकी व्यवस्था की गयी है। दानका अर्थ है, समाजका ऋण चुकानेके लिए किया गया प्रयोग। दानका अर्थ परोपकार नहीं। समाजसे मैंने अपार सेवा ली है। जब मैं इस संसारमें आया, तो दुर्बल और असहाय था। इस समाजने मुझे छोटेसे बड़ा किया है। इसलिए मुझे समाजकी सेवा करनी चाहिए। 'परोपकार' कहते हैं, दूसरेसे कुछ न लेकर की हुई सेवाको। परन्तु यहाँ तो हम समाजसे पहले ही भरपूर ले चुके हैं। समाजके इस ऋणसे मुक्त होनेके लिए जो सेवा की जाय, वही दान है। मनुष्य-समाजको आगे बढ़नेमें सहायता करना दान है। सृष्टिकी हानि पूरी करनेके लिए जो श्रम किया जाता है; वह यज्ञ है; और समाजका ऋण चुकानेके लिए तन, मन, धन तथा अन्य साधनोंसे जो सहायता की जाती है, वह दान है।

६. इसके अलावा एक तीसरी संस्था और है। वह है, शरीर। शरीर भी प्रतिदिन छीजता जाता है। हम अपने मन, बुद्धि, इन्द्रिय, सबसे

काम लेते हैं, इनको छिजाते हैं। इस शरीररूपी संस्थामें जो विकार, जो दोष उत्पन्न हों, उनकी शुद्धिके लिए 'तप' बताया गया है।

७. इस प्रकार सृष्टि, समाज और शरीर—इन तीनों संस्थाओंका कार्य जिससे अच्छी प्रकार चल सके, उसी प्रकार व्यवहार करना हमारा कर्तव्य है। हम अनेक योग्य-अयोग्य संस्थाएँ निर्माण करते हैं, परन्तु ये तीन संस्थाएँ हमारी बनायी हुई नहीं हैं। ये तो स्वभावतः ही हमें मिल गयी हैं। ये संस्थाएँ कृत्रिम नहीं हैं। अतः इन तीन संस्थाओंकी हानि यज्ञ, दान और तप—इन साधनोंसे पूरी करना हमारा स्वभाव-प्राप्त धर्म है। अगर हम इस तरहसे चलें, तो जो कुछ शक्ति हमारे अन्दर है, वह सारी इसमें लग जायगी। अन्य बातोंके लिए और शक्ति शेष ही नहीं बचेगी। इन तीनों संस्थाओं—सृष्टि, समाज और शरीर—को सुन्दर रखनेके लिए हमें अपनी सारी शक्ति खर्च करनी पड़ेगी। यदि कबीरकी तरह हम भी कह सकें कि “हे प्रभो, ‘ज्योंकी त्यों धरि दीन्हीं चदरिया’—तूने मुझे जैसी चादर दी थी, उसे वैसी-की-वैसी छोड़कर जा रहा हूँ, तू इसे अच्छी तरह जाँच ले”, तो वह कितनी बड़ी सफलता है! परन्तु ऐसी सफलता प्राप्त करनेके लिए यज्ञ, दान और तपका त्रिविध कार्यक्रम व्यवहारमें लाना चाहिए।

यज्ञ, दान और तपमें हमने भेद माना है, परन्तु सच पूछा जाय तो इनमें भेद नहीं है, क्योंकि सृष्टि, समाज और शरीर—ये बिलकुल भिन्न-भिन्न संस्थाएँ हैं ही नहीं। यह समाज सृष्टिसे बाहर नहीं है, न यह शरीर ही सृष्टिके बाहर है। इन तीनोंको मिलाकर एक ही भव्य सृष्टि-संस्था बनती है। इसीलिए हमें जो उत्पादक श्रम करना है, जो दान देना है, जो तप करना है, उन सबको व्यापक अर्थमें ‘यज्ञ’ ही कह सकते हैं। गीताने चौथे अध्यायमें ‘द्रव्य-यज्ञ’, ‘तपो-यज्ञ’ आदि यज्ञ बताये हैं। गीताने यज्ञका अर्थ विशाल बना दिया है।

इन तीनों संस्थाओंके लिए हम जो-जो सेवा-कार्य करेंगे, वे यज्ञरूप ही होंगे। आवश्यकता है उस सेवाको निरपेक्ष रखनेकी। उससे फलकी अपेक्षा तो की ही नहीं जा सकती; क्योंकि फल तो हम पहले ही ले चुके

हैं। ऋण तो पहले ही सिरपर चला आ रहा है। जो लिया है, उसे वापस करना है। यज्ञसे सृष्टि-संस्थामें साम्यावस्था प्राप्त होती है। दानसे समाजमें साम्यावस्था प्राप्त होती है और तपसे शरीरमें साम्यावस्था रहती है। इस तरह तीनों ही संस्थाओंमें साम्यावस्था रखनेका कार्यक्रम है। इसमें शुद्धि होगी और दूषित भाव नष्ट हो जायगा।

८. यह जो सेवा करनी है, उसके लिए कुछ 'भोग' भी ग्रहण करना पड़ेगा। भोग भी यज्ञका ही एक अंग है। इस भोगको गीता 'आहार' कहती है। इस शरीररूपी यंत्रको अन्नरूपी कोयला देनेकी जरूरत है। यद्यपि यह आहार स्वयं यज्ञ नहीं है, तथापि यज्ञ सिद्ध करनेका एक अंग अवश्य है। इसलिए हम कहा करते हैं—

उदरभरण नोहे जाणिजे यज्ञकर्म

—'यह उदर-भरण नहीं, इसे यज्ञ-कर्म जानो।'

बगीचेसे फूल लाकर देवताके सिरपर चढ़ाना, यह पूजा है; परन्तु फूल उत्पन्न करनेके लिए बगीचेमें जो मेहनत की जाती है, वह भी पूजा ही है। यज्ञ पूरा करनेके लिए जो-जो क्रिया की जाती है, वह एक प्रकारकी पूजा ही है। शरीर तभी हमारे काममें आ सकेगा, जब हम उसे आहार देंगे। यज्ञ-साधनरूप कर्म भी 'यज्ञ' ही है। गीता इन कर्मोंको 'तदर्थीय-कर्म'—'यज्ञार्थ-कर्म'—कहती है। सेवार्थ शरीर सतत खड़ा रहे, इसलिए इस शरीरको जो आहुति देंगा, वह यज्ञरूप है। सेवाके लिए किया गया आहार पवित्र है।

९. इन सब बातोंके मूलमें फिर श्रद्धा चाहिए। सारी सेवाको ईश्वरार्पण करनेका भाव मनमें होना चाहिए। यह बड़े महत्वकी बात है। ईश्वरार्पण बुद्धिके बिना सेवामयता नहीं आ सकती। इस प्रधान वस्तुको, ईश्वरार्पणताको भुला देनेसे काम नहीं चलेगा।

१६. साधनाका सात्त्विकीकरण

१०. परन्तु हम अपनी सब क्रियाएँ ईश्वरको कब अर्पण कर सकेंगे? तभी, जब कि वे सात्त्विक होंगी। जब हमारे सब कर्म सात्त्विक होंगे, तभी हम उन्हें ईश्वरार्पण कर सकेंगे। यज्ञ, दान और तप, सब सात्त्विक

होने चाहिए। क्रियाओंको सात्त्विक कैसे बनाना चाहिए, इसका तत्त्व हमने चौदहवें अध्यायमें देख लिया है। इस अध्यायमें गीता उस तत्त्वका विनियोग बता रही है।

११. सात्त्विकताकी यह योजना करनेमें गीताका उद्देश्य दुहरा है। बाहरसे यज्ञ, दान और तपरूप जो मेरी 'विश्व-सेवा' चल रही है, उसीको भीतरसे 'आध्यात्मिक साधना' का नाम दिया जा सकता है। सृष्टिकी सेवा और साधनाके भिन्न-भिन्न कार्यक्रम नहीं होने चाहिए। सेवा और साधना, ये दो भिन्न बातें हैं ही नहीं। दोनोंके लिए एक ही प्रयत्न, एक ही कर्म ! इस प्रकार जो कर्म किया जाय, उसे भी अन्तमें ईश्वरार्पण करना है। समाज-सेवा + साधना + ईश्वरार्पणता + यह योग एक ही क्रियासे सिद्ध होना चाहिए।

१२. यज्ञको सात्त्विक बनानेके लिए दो बातोंकी आवश्यकता है— निष्फलताका अभाव और सकामताका अभाव। ये दो बातें यज्ञमें होनी चाहिए। यज्ञमें यदि सकामता होगी, तो वह राजस यज्ञ हो जायगा और यदि निष्फलता होगी, तो वह तामस यज्ञ हो जायगा।

सूत कातना यज्ञ है, परन्तु यदि सूत कातते हुए हमने उसमें अपनी आत्मा नहीं उँडेली, और हमें चित्तकी एकाग्रता नहीं सधी, तो वह सूत्रयज्ञ जड़ हो जायगा। बाहरसे हाथ काम कर रहे हैं, उस समय अन्दरसे मनका मेल नहीं है, तो वह सारी क्रिया विधिहीन हो जायगी। विधिहीन कर्म जड़ हो जाते हैं। विधिहीन क्रियामें तमोगुण आ जाता है। उस क्रियासे उत्कृष्ट वस्तुका निर्माण नहीं हो सकता। उसमेंसे फलकी निष्पत्ति नहीं होगी। यज्ञमें सकामता न हो, तो भी उससे उत्कृष्ट फल मिलना चाहिए। कर्ममें यदि मन न हो, आत्मा न हो, तो वह कर्म बोझ-सा हो जायगा। फिर उससे उत्कृष्ट फल कहाँ ? यदि बाहरका काम बिगड़ा, तो यह निश्चित समझो कि अन्दर मनका योग नहीं था। अतः कर्ममें अपनी आत्मा उँडेलो। आन्तरिक सहयोग रखो। सृष्टि-संस्थाका ऋण चुकानेके लिए हमें उत्कृष्ट फलोत्पत्ति करनी चाहिए। कर्मोंमें फलहीनता न आने पाये, इसीलिए आन्तरिक मेलकी विधियुक्तता आवश्यक है।

१३. इस प्रकार जब हमारे अन्दर निष्कामता आ जायगी और विधिपूर्वक सफल कर्म होगा, तभी हमारी चित्त-शुद्धि होने लगेगी। चित्त-शुद्धिकी कसौटी क्या है? बाहरी कामकी जाँच करके देखो। यदि वह निर्मल और सुन्दर न हो, तो चित्तको भी मलिन समझ लेनेमें कोई बाधा नहीं। भला, कर्ममें सुन्दरता कब आती है? शुद्ध चित्तसे परिश्रमके साथ किये हुए कर्मपर ईश्वर अपनी पसन्दगीकी, अपनी प्रसन्नताकी मुहर लगा देता है। जब प्रसन्न परमेश्वर कर्मकी पीठपर प्रेमका हाथ फिराता है, तो वहाँ सौंदर्य उत्पन्न हो जाता है। सौंदर्यका अर्थ है, पवित्र श्रमको मिला हुआ परमेश्वरीय प्रसाद। शिल्पकार जब मूर्ति बनाने समय तन्मय हो जाता है, तो उसे ऐसा अनुभव होने लगता है कि यह सुन्दर मूर्ति मेरे हाथोंसे नहीं बनी। मूर्तिका आकार गढ़ते-गढ़ते अंतिम क्षणमें न जाने कहाँसे उसमें अपने-आप सौंदर्य आ टपकता है। क्या चित्त-शुद्धिके बिना यह ईश्वरीय कला प्रकट हो सकती है? मूर्तिमें जो कुछ स्वारस्य, माधुर्य है, वह यही कि अपने अंतःकरणका सारा सौंदर्य उसमें उँडेल दिया जाता है। मूर्तिके मानी है, हमारे चित्तकी प्रतिमा! हमारे समस्त कर्म हमारे मनकी मूर्तियाँ हैं। अगर मन सुन्दर है, तो वह कर्ममय मूर्ति भी सुन्दर होगी। बाहरके कर्मोंकी शुद्धि मनकी शुद्धिसे और मनकी शुद्धि बाहरके कर्मोंसे जाँच लेनी चाहिए।

१४. एक बात और। वह यह कि इन सब कामोंमें मंत्र भी चाहिए। मंत्रहीन कर्म व्यर्थ है। सूत कातते समय यह मंत्र अपने हृदयमें रखो कि मैं इस सूतसे गरीब जनताके साथ जोड़ा जा रहा हूँ। यदि यह मंत्र हृदयमें न हो और घंटों क्रिया करें, तो भी वह सब व्यर्थ जायगी। उस क्रियासे चित्त शुद्ध नहीं होगा। कपासकी पूनीमेंसे अव्यक्त परमात्मा सूत्ररूपमें प्रकट हो रहा है—ऐसा मंत्र अपनी क्रियामें डालकर फिर उस क्रियाकी ओर देखो। वह क्रिया अत्यन्त सात्त्विक और सुन्दर बन जायगी। वह क्रिया पूजा बन जायगी, यज्ञरूप सेवा हो जायगी। उस छोटे-से धागे-द्वारा हम समाजके साथ, जनताके साथ, जगदीश्वरके साथ बँध जायेंगे। बालकृष्णके छोटे-से मुँहमें यशोदा माँको सारा विश्व दिखलायी दिया। उस मंत्रमय सूत्रके धागोंमें भी तुम्हें विशाल विश्व दिखाई देने लगेगा।

९७. आहार-शुद्धि

१५. ऐसी सेवाके लिए आहार-शुद्धि भी आवश्यक है। जैसा आहार, वैसा ही मन ! आहार परिमित होना चाहिए। आहार कौन-सा हो, इसकी अपेक्षा यह बात अधिक महत्त्वकी है कि वह कितना हो। ऐसा नहीं है कि आहारका चुनाव महत्त्वकी बात नहीं है, परन्तु हम जो आहार लेते हैं, वह उचित मात्रामें है या नहीं, यह उससे भी अधिक महत्त्वकी बात है।

१६. हम जो कुछ खाते हैं, उसका परिणाम अवश्य होगा। हम खाते क्यों हैं ? इसीलिए कि उत्कृष्ट सेवा हो। आहार भी यज्ञांग ही है। सेवारूपी यज्ञको फलदायी बनानेके लिए आहार चाहिए, इस भावनासे आहारकी ओर देखो। आहार शुद्ध और स्वच्छ होना चाहिए। व्यक्ति अपने जीवनमें कितनी आहार-शुद्धि कर सकता है, इसकी कोई मर्यादा नहीं; परन्तु हमारे समाजने आहार-शुद्धिके लिए पर्याप्त तपस्या की है। आहार-शुद्धिके लिए भारतमें विशाल प्रयोग हुए हैं। उन प्रयोगोंमें हजारों वर्ष बीते। उनमें कितनी तपस्या लगी, यह नहीं कहा जा सकता। इस भूमंडलपर भारत ही एक ऐसा देश है, जहाँ कितनी ही पूरी-की-पूरी जातियाँ मांसाशन-मुक्त हैं। जो जातियाँ मांसाहारी हैं, उनके भी भोजनमें मांस नित्य और मुख्य पदार्थ नहीं है और जो मांस खाते हैं, वे भी उसमें कुछ हीनता अनुभव करते हैं। मनसे तो वे भी मांसका त्याग कर चुके हैं। मांसाहारकी प्रवृत्तिको रोकनेके लिए यज्ञ प्रचलित हुआ और इसीके लिए वह बंद भी हो गया। श्रीकृष्ण भगवान् ने तो यज्ञकी व्याख्या ही बदल दी। श्रीकृष्णने दूधकी महिमा बढ़ायी। श्रीकृष्णने असाधारण बातें कुछ कम नहीं की हैं; परन्तु भारतकी जनता किस कृष्णके पीछे पागल हुई थी ? भारतीय जनताको तो 'गोपालकृष्ण' 'गोपालकृष्ण' यही नाम प्रिय है। वह कृष्ण, जिसके पास गायें बैठी हुई हैं, जिसके अधरोंपर मुरली धरी है, ऐसा गायोंकी सेवा करनेवाला, गोपालकृष्ण ही आबाल-वृद्धोंका परिचित है। गो-रक्षणका बड़ा उपयोग मांसाहार बंद करनेमें हुआ। गायके दूधकी महिमा बढ़ी और मांसाहार कम हुआ।

१७. फिर भी सम्पूर्ण आहार-शुद्धि हो गयी हो, सो बात नहीं। हमें अब उसे आगे बढ़ाना है। बंगाली लोग मछली खाते हैं, यह देखकर कितने ही लोगोंको आश्चर्य होता है। किन्तु इसके लिए उन्हें दोष देना ठीक न होगा। बंगालमें सिर्फ चावल होता है। उससे शरीरको पूरा पोषण नहीं मिल सकता। इसके लिए प्रयोग करने पड़ेंगे। फिर लोगोंमें इस बातका विचार शुरू होगा कि मछली न खाकर कौन-सी वनस्पति खायें, जिसमें मछलीके बराबर ही पुष्टि मिल जाय। इसके लिए असाधारण त्यागी पुरुष पैदा होंगे और फिर ऐसे प्रयोग होंगे। ऐसे व्यक्ति ही समाजको आगे ले जाते हैं। सूर्य जलता रहता है, तब जाकर कहीं जीवित रहने योग्य ९८° उष्णता हमारे शरीरमें रहती है। जब समाजमें वैराग्यके प्रज्वलित सूर्य उत्पन्न होते हैं और जब वे बड़ी श्रद्धापूर्वक परिस्थितियोंके बन्धन तोड़कर बिना पंखोंके अपने ध्येयाकाशमें उड़ने लगते हैं, तब कहीं संसारोपयोगी अल्प-स्वल्प वैराग्यका हममें संचार होता है। मांसाहार बन्द करनेके लिए ऋषियोंको कितनी तपस्या करनी पड़ी होगी, कितने प्राण अर्पण करने पड़े होंगे, इस बातका विचार ऐसे समय मेरे मनमें आता है।

१८. सारांश यह कि आज हमारी सामुदायिक आहार-शुद्धि इतनी हुई है। अनंत त्याग करके हमारे पूर्वजोंने जो कमाई की है, उसे गँवाओ मत ! भारतीय संस्कृतिकी इस विशेषताको डुबाओ मत ! हमें जैसे-तैसे जीवित नहीं रहना है। जिसे किसी-न-किसी तरह जीवित रहना है, उसका काम बड़ा सरल है। पशु भी किसी-न-किसी तरह जी ही लेते हैं। तब क्या, जैसे पशु, वैसे ही हम ? पशुमें और हममें अन्तर है। उस अन्तरको बढ़ाना ही संस्कृति-वर्धन कहा जाता है। हमारे राष्ट्रने मांसाहार-त्यागका बहुत बड़ा प्रयोग किया। उसे और आगे ले जाओ। कम-से-कम जिस मंजिलतक हम पहुँच चुके हैं, उससे पीछे तो मत हटो।

यह सूचना देनेका कारण यह है कि आजकल कितने ही लोगोंको मांसाहारकी इष्टता प्रतीत होने लगी है। आज पूर्वी और पश्चिमी संस्कृतियोंका एक-दूसरेपर प्रभाव पड़ रहा है। मेरा विश्वास है कि

अंतमें इसका परिणाम अच्छा ही होगा। पाश्चात्य संस्कृतिके कारण हमारी जड़ श्रद्धा हिलती जा रही है। यदि अंध-श्रद्धा डिग गयी, तो कुछ हानि नहीं। अच्छा होगा, वह टिक जायगा और बुरा जलकर राख हो जायगा। अंध-श्रद्धा जानेपर उसके स्थानपर अंध-अश्रद्धा ही उत्पन्न होनी चाहिए। ऐसा नहीं कि केवल श्रद्धा ही अंधी होती हो। केवल श्रद्धाने ही 'अंध' विशेषणका ठीका नहीं लिया है। अश्रद्धा भी अंधी हो सकती है।

मांसाहारके बारेमें आज फिरसे विचार होना शुरू हो गया है। जो हो, कोई नवीन विचार सामने आता है, तो मुझे बड़ा आनंद होता है। लगता है कि लोग जग रहे हैं और धक्के दे रहे हैं। जागृतिके लक्षण देखकर मुझे अच्छा लगता है। लेकिन यदि जगकर आँखें मलते हुए वैसे ही चल पड़ेंगे, तो गिर पड़नेकी आशंका रहेगी। अतः जबतक पूरे-पूरे न जग जायँ, अच्छी तरह आँख खोलकर देखने न लगें, तबतक हाथ-पैरोंको मर्यादामें ही रखना अच्छा है। विचार खूब काजिये, आड़े-तिरछे, उल्टे-सीधे, चारों ओरसे खूब सोचिये। धर्मपर विचारकी कैंची चलाइये। इस विचाररूपी कैंचीसे जो धर्म कट जाय, समझो कि वह तीन कौड़ीका था। इस तरह जो टुकड़े कट-छूट जायँ, उन्हें जाने दो। तुम्हारी कैंचीसे जो न कटे, बल्कि उससे उल्टी तुम्हारी कैंची ही टूट जाय, वही धर्म सच्चा है। धर्मको विचारोंसे डर नहीं। अतः विचार तो करो, परन्तु काम एकदम मत कर डालो। अधजगे रहकर यदि कुछ काम करोगे, तो गिरोगे। विचार जोरोंसे चले, फिर भी कुछ देर आचारको सँभाले रखो। अपनी कृतिपर संयम रखो। अपनी पहलेकी पुण्याई मत गँवा बैठो।

१८. अविरोधो जीवनकी गीताकी योजना

१९. आहार-शुद्धिसे चित्त-शुद्धि रहेगी। शरीरको भी बल मिलेगा। समाज-सेवा अच्छी तरह हो सकेगी। चित्तमें संतोष रहेगा और समाजमें भी संतोष फैलेगा। जिस समाजमें यज्ञ, दान, तप-ये क्रियाएँ विधि और मंत्रसहित होती रहती हैं, उसमें विरोध दिखाई नहीं देगा। दो दर्पण यदि एक-दूसरेके आमने-सामने रखे हों, तो जैसे इसमेंका उसमें और उसमेंका इसमें दीखेगा, उसी तरह व्यक्ति और समाजमें बिबप्रतिबिब-न्यायसे

परस्पर संतोष प्रकट होगा। जो मेरा संतोष है, वही समाजका है और जो समाजका है, वही मेरा। इन दोनों संतोषोंकी हम जाँच कर सकेंगे और हम देखेंगे कि दोनों एकरूप हैं। सर्वत्र अद्वैतका अनुभव होगा। द्वैत और द्रोह अस्त हो जायेंगे। ऐसी सुव्यवस्था जिस योजनाके द्वारा हो सकती है, उसीका प्रतिपादन गीता कर रही है। अगर अपना दैनिक कार्यक्रम हम गीताकी योजनाके अनुसार बनायें, तो कितना अच्छा हो !

२०. परन्तु आज व्यक्ति और समाजके जीवनमें विरोध उत्पन्न हो गया है। यह विरोध कैसे दूर हो सकता है, यही चर्चा सब ओर चल रही है। व्यक्ति और समाजकी मर्यादा क्या है? व्यक्ति गौण है या समाज? इनमें श्रेष्ठ कौन है? व्यक्तिवाद-समर्थक कुछ लोग समाजको जड़ समझते हैं। सेनापतिके सामने कोई सिपाही आता है, तो सेनापति उससे बोलते समय सौम्य भाषाका उपयोग करता है। उसे 'आप' भी कहेगा; परन्तु सेनाको तो वह चाहे जिस तरह हुक्म देगा। मानो सैन्य अचेतन हो, लकड़ीका एक लट्ठा हो। उसे इधर-से-उधर हिलायेगा और उधर-से-इधर। व्यक्ति चैतन्यमय है और समाज जड़, ऐसा अनुभव यहाँ भी हो रहा है। देखो, मेरे सामने दो सौ, तीन सौ आदमी हैं; परन्तु उन्हें रुचे या न रुचे, मैं तो बोलता ही जा रहा हूँ। मुझे जो विचार सूझता है, वही कहता हूँ। मानो आप जड़ ही हैं। परन्तु मेरे सामने कोई व्यक्ति आयेगा, तो मुझे उसकी बात सुननी पड़ेगी और उसे विचारपूर्वक उत्तर देना पड़ेगा; परन्तु यहाँ तो मैंने आपको घण्टे-घण्टेभर यों ही बैठा रखा है।

“समाज जड़ है और व्यक्ति चैतन्य”—ऐसा कहकर व्यक्ति-चैतन्य-वादका कोई प्रतिपादन करते हैं और कोई समुदायको महत्त्व देते हैं। मेरे बाल झड़ गये, हाथ टूट गया, आँखें चली गयीं और दाँत गिर गये। इतना ही नहीं, एक फेफड़ा भी बेकार हो गया; परन्तु मैं फिर भी जीवित रहता हूँ, क्योंकि पृथक् रूपमें एक-एक अवयव जड़ है। किसी एक अवयवके नाशसे सर्वनाश नहीं होता। सामुदायिक शरीर चलता ही रहता है। इस प्रकार ये दो परस्परविरोधी विचारधाराएँ हैं। आप

जिस दृष्टिसे देखेंगे, वैसा ही अनुमान निकालेंगे। जिस रंगका चरमा, उसी रंगकी सृष्टि !

२१. कोई व्यक्तिको महत्त्व देता है, तो कोई समाजको। इसका कारण यह है कि समाजमें जीवन-कलहकी कल्पना फैल गयी है; परन्तु क्या जीवन कलहके लिए है ? इससे तो फिर हम मर क्यों नहीं जाते ? कलहतो मरनेके लिए है। तभी तो हम स्वार्थ और परमार्थमें भेद डालते हैं। जिसने पहले-पहल यह कल्पना की कि स्वार्थ और परमार्थमें अन्तर है, उसकी बलिहारी है। जो वस्तु वास्तवमें है ही नहीं, उसके अस्तित्वका आभास देनेकी शक्ति जिसकी बुद्धिमें थी, उसकी तारीफ करनेको जी चाहता है। जो भेद नहीं है, वह उसने खड़ा किया और उसे जनताको सिखाया, इस बातका आश्चर्य होता है। चीनकी दीवारके जैसा ही यह प्रकार है। यह मानना वैसा ही है, जैसा कि क्षितिजकी मर्यादा बाँधना और फिर यह मानना कि उसके पार कुछ नहीं है। इन सबका कारण है, आज यज्ञमय जीवनका अभाव ! इसीसे व्यक्ति और समाजमें भेद उत्पन्न हो गया है।

परन्तु व्यक्ति और समाजमें वास्तविक भेद नहीं किया जा सकता। किसी कमरेके दो भाग करनेके लिए अगर कोई पर्दा लगाया जाय और पर्दा हवासे उड़कर आगे-पीछे होने लगे, तो कभी यह भाग बड़ा मालूम होता है और कभी वह। हवाकी लहरपर उस कमरेके भाग अबलम्बित रहते हैं। वे स्थायी, पक्के नहीं हैं। गीता इन झगड़ोंसे परे है। ये झगड़े काल्पनिक हैं। गीता तो कहती है कि अंतःशुद्धिकी मर्यादा रखो। फिर व्यक्ति और समाजके हितोंमें कोई विरोध उत्पन्न नहीं होगा। एक-दूसरेके हितमें कोई बाधा नहीं होगी। इस बाधाको, इस विरोधको दूर करना ही गीताकी विशेषता है। गीताके इस नियमका पालन करनेवाला यदि एक भी व्यक्ति मिल जाय, तो अकेले उसीसे सारा राष्ट्र सम्पन्न हो जायगा। राष्ट्रका अर्थ है—राष्ट्रके व्यक्ति। जिस राष्ट्रमें ऐसे ज्ञान और आचारसम्पन्न व्यक्ति नहीं हैं, उसे राष्ट्र कैसे मानेंगे ? भारत क्या है ? भारत रवीन्द्रनाथ है, भारत गांधी है या इसी तरहके पाँच-दस नाम। बाहरका संसार भारतकी कल्पना इन्हीं पाँच-दस व्यक्तियोंपरसे करता

है। प्राचीनकालके दो-चार, मध्यकालके चार-पाँच और आजके आठ-दस व्यक्ति ले लीजिये और उनमें हिमालय, गंगा आदिको मिला दीजिये। बस, हो गया भारत। यही है भारतकी व्याख्या। बाकी सब है इस व्याख्याका भाष्य। भाष्य यानी सूत्रोंका विस्तार। दूधका दही और दहीका छाछ-मक्खन ! झगड़ा दूध-दही, छाछ-मक्खनका नहीं है। दूधका कस देखनेके लिए उसमें मक्खन कितना है, यह देखा जाता है। इसी प्रकार समाजका कस उसके व्यक्तियोंपरसे निकाला जाता है। व्यक्ति और समाजमें कोई विरोध नहीं है। विरोध हो भी कैसे सकता है ? व्यक्ति-व्यक्तिमें भी विरोध न होना चाहिए। यदि एक व्यक्तिसे दूसरा व्यक्ति अधिक संपन्न हो जाय, तो इससे बिगड़ेगा क्या ? हाँ, कोई भी विपन्न-अवस्थामें न हो और संपत्तिवालोंकी संपत्ति समाजके काम आती रहे, बस। मेरी दाहिनी जेबमें पैसे हैं तो क्या, बायीं जेबमें हैं तो क्या ? दोनों जेबें आखिर हैं तो मेरी ही ! कोई व्यक्ति संपन्न होता है, तो उससे मैं संपन्न होता हूँ, राष्ट्र संपन्न होता है—ऐसी युक्ति साधी जा सकती है।

परन्तु हम भेद खड़े करते हैं। धड़ और सिर अलग-अलग हो जायँगे, तो दोनों मर जायँगे। अतः व्यक्ति और समाजमें भेद न करो। गीता यही सिखाती है कि एक ही क्रिया स्वार्थ और परमार्थको किस प्रकार अविरोधी बना देती है। मेरे इस कमरेकी हवामें और बाहरकी अनंत हवामें कोई विरोध नहीं है। यदि मैं इनमें विरोधकी कल्पना करके कमरा बंद कर लूँगा, तो दम घुटकर मर जाऊँगा। अविरोधकी कल्पना करके मुझे कमरा खोलने दो, तो वह अनंत हवा भीतर आ जायगी। जिस क्षण मैं अपनी जमीन और अपना घरका टुकड़ा औरोंसे अलग करता हूँ, उसी क्षण मैं अनंत संपत्तिसे वंचित हो जाता हूँ। मेरा वह छोटा-सा घर जलता है, गिरता है, तो मैं ऐसा समझकर कि मेरा सर्वस्व चला गया, रोने-पीटने लग जाता हूँ। परन्तु ऐसा क्यों करना चाहिए ? क्यों रोना-पीटना चाहिए ? पहले तो संकुचित कल्पना करें और फिर रोयें ! ये पाँच सौ रुपये मेरे हैं, ऐसा कहा कि सृष्टिकी अपार संपत्तिसे मैं दूर हुआ। ये दो भाई मेरे हैं, ऐसा समझा कि संसारके असंख्य भाई मुझसे दूर हो गये—

इसका हमें ध्यान नहीं रहता। मनुष्य अपनेको कितना संकुचित बना लेता है ! वास्तवमें तो मनुष्यका स्वार्थ ही परमार्थ होना चाहिए। गीता ऐसा ही सरल-सुन्दर मार्ग दिखा रही है, जिससे व्यक्ति और समाजमें उत्तम सहयोग हो।

२२. जीभ और पेटमें क्या विरोध है ? पेटको जितना अन्न चाहिए, उतना ही जीभको देना चाहिए। पेटने 'बस' कहा कि जीभको देना बन्द कर देना चाहिए। पेट एक संस्था है, तो जीभ दूसरी संस्था। मैं इन संस्थाओंका सम्प्राप्त हूँ। इन सब संस्थाओंमें अद्वैत ही है। कहाँसे ले आये यह अभागा विरोध ? जिस प्रकार एक ही देहकी इन संस्थाओंमें वास्तविक विरोध नहीं है, प्रत्युत सहयोग है, उसी प्रकार समाजमें भी है। समाजमें इस सहयोगको बढ़ानेके लिए ही गीता चित्त-शुद्धिपूर्वक यज्ञ, दान, तप, क्रियाका विधान बताती है। ऐसे कर्मोंसे व्यक्ति और समाज, दोनोंका कल्याण होगा।

जिसका जीवन यज्ञमय है, वह सबका हो जाता है। प्रत्येक पुत्रको ऐसा मालूम होता है कि माँका प्रेम मुझपर है। उसी प्रकार यह व्यक्ति सबको अपना मालूम होता है। सारी दुनियाको वह प्रिय और अपनाने-योग्य लगता है। सभीको ऐसा मालूम होता है कि वह हमारा प्राण है, मित्र है, सखा है।

ऐसा पुरुष तो पहावा । जनांस बाटे हा असावा ॥

'ऐसा पुरुष तो धन्य है, लोग उसे अनन्य रूपसे चाहते हैं'—ऐसा समर्थ रामदासने कहा है। ऐसा जीवन बनानेकी युक्ति गीताने बतायी है।

९९. समर्पणका मंत्र

२३. गीता यह भी कहती है कि जीवनको यज्ञमय बनाकर फिर उस सबको ईश्वरार्पण कर देना चाहिए। जीवनके सेवामय हो जानेपर फिर और ईश्वरार्पणता किसलिए ? हम यह सरलतासे कह तो देते हैं कि सारा जीवन सेवामय कर दिया जाय, परन्तु ऐसा करना बहुत कठिन है। अनेक जन्मोंके बाद वह थोड़ा-बहुत सध सकता है। फिर भले ही सारे कर्म सेवामय हो जायँ, तो भी उसमें ऐसा नहीं कह सकते कि वे पूजामय

हो ही गये। इसलिए 'ॐ तत्सत्' इस मन्त्रके साथ सारे कर्म ईश्वरार्पण करने चाहिए।

सेवा-कर्म वैसे सोलहों आना सेवामय होना कठिन है; क्योंकि परार्थमें भी स्वार्थ आ ही जाता है। केवल परार्थ सम्भव ही नहीं है। ऐसा कोई काम नहीं हो सकता, जिसमें मेरा लेशमात्र भी स्वार्थ न हो। इसलिए प्रतिदिन अधिक निष्काम और अधिक निःस्वार्थ सेवा तार्थोंसे हो, ऐसी इच्छा रखनी चाहिए। यदि यह चाहते हों कि सेवा उत्तरोत्तर अधिक शुद्ध हो, तो सारी क्रियाएँ ईश्वरार्पण करो। ज्ञानदेवने कहा है—

नामामृतगोडी वैष्णवां लाधली। योगियां साधली जीवनकला॥

‘वैष्णवको नाम मधुर लगता है। योगी जीवन-कला साधते हैं।’

नामामृतकी मधुरता और जीवन-कला अलग-अलग नहीं है। नामका आन्तरिक घोष और बाह्य जीवन-कला, दोनोंका मेल है। योगी और वैष्णव एक ही हैं। परमेश्वरको क्रिया अर्पण कर देनेपर स्वार्थ, परार्थ और परमार्थ, सब एकरूप हो जाते हैं। पहले तो जो ‘तुम’ और ‘मैं’ अलग-अलग है, उन्हें एक करना चाहिए। ‘तुम’ और ‘मैं’ मिलनेसे ‘हम’ हो गये। अब ‘हम’ और ‘वह’ को एक कर डालना है। पहले मुझे इस सृष्टिसे मेल साधना है और फिर परमात्मासे। ॐ तत्सत् मन्त्रमें यही भाव सूचित किया जाता है।

२४. परमात्माके अनन्त नाम हैं। व्यासजीने तो उन नामोंका ‘विष्णुसहस्रनाम’ बना दिया है। जो-जो नाम हम कल्पित कर लें, वे सब उसके हैं। जो नाम हमारे मनमें स्फुरित हो, उसी अर्थमें उसे हम सृष्टिमें देखें और तदनुरूप अपना जीवन बनायें। परमेश्वरका जो नाम मनका भाये, उसीको हम सृष्टिमें देखें और उसीके अनुसार हम बनें। इसको मैं ‘त्रिपदा गायत्री’ कहता हूँ। उदाहरणके लिए ईश्वरका ‘दयामय’ नाम ले लीजिये। ऐसा मानकर चलें कि वह ‘रहीम’ है। अब उसी दया-सागर परमेश्वरको इस सृष्टिमें आँखें खोलकर देखें। भगवान् ने प्रत्येक बच्चेको उसकी सेवाके लिए माता दी है, जीनेके लिए हवा दी है। इस तरह उस दयामय प्रभुकी सृष्टिमें जो दयाकी योजना है, उसे देखें और अपना

जीवन भी दयामय बनायें। भगवद्गीता-कालमें भगवान्‌का जो नाम प्रसिद्ध था, वही भगवद्गीताने सुझाया है। वह है ॐ तत्सत् ।

२५. 'ॐ' का अर्थ है 'हाँ'। परमात्मा है, इस बीसवीं शताब्दीमें भी परमात्मा है। स एव अद्य स उ इवः। वही आज है, वही कल था और वही कल होगा। वह कायम है। सृष्टि कायम है और कमर कसकर मैं भी साधना करनेके लिए तैयार हूँ। मैं साधक हूँ। वह भगवान्‌ है और यह सृष्टि पूजाद्रव्य, पूजा-साधन है। जब ऐसी भावनासे मेरा हृदय भर जायगा, तभी कहा जा सकेगा कि 'ॐ' मेरे गले उतरा। वह है, मैं हूँ और मेरी साधना भी है—ऐसा यह ॐकार-भाव मनमें पैठ जाना चाहिए और साधनामें प्रकट होना चाहिए। सूर्यको जब कभी देखिये, वह किरणोंसहित है। वह किरणोंको दूर रखकर कभी रह ही नहीं सकता। वह किरणोंको नहीं भूलता। इसी प्रकार कोई भी किसी भी समय क्यों न देखे, साधना हमारे पास दिखाई देनी चाहिए। जब ऐसा हो जायगा, तभी यह कहा जा सकेगा कि 'ॐ' को हमने पचा लिया।

इसके बाद है 'सत्'। परमेश्वर सत् है अर्थात् शुभ है, मंगल है। इस भावनासे अभिभूत होकर भगवान्‌के मांगल्यका सृष्टिमें अनुभव करो। देखो, वह पानीकी सतह ! पानीमेंसे एक घड़ा भर लो। उससे जो गड्ढा पड़ेगा, वह क्षणभरमें ही भर जायगा। यह कितना मांगल्य है ! यह कितनी प्रीति है ! नदी गड्ढोंको सहन नहीं करती। गड्ढोंको भरनेके लिए दौड़ती है।

नदी वेगेन शुद्धयति

सृष्टिरूपी नदी वेगसे शुद्ध हो रही है। यावत् सृष्टि सब शुभ और मंगल है। अपने कर्मको भी ऐसा ही होने दो। परमेश्वरके इस 'सत्' नामको आत्मसात् करनेके लिए सारी क्रियाएँ निर्मल और भक्तिमय होनी चाहिए। सोमरस जिस तरह पवित्रकोंमेंसे छाना जाता था, उसी तरह अपने कर्मों और साधनोंको नित्य परीक्षण करके निर्दोष बनाना चाहिए।

अब रहा 'तत्'। 'तत्' का अर्थ है 'वह'—कुछ तो भी भिन्न, इस सृष्टिसे अलिप्त। परमात्मा इस सृष्टिसे भिन्न है अर्थात् अलिप्त है। सूर्योदय

होते ही कमल खिलने लगते हैं, पक्षी उड़ने लगते हैं और अंधकार नष्ट हो जाता है। परन्तु 'सूर्य' तो दूर ही रहता है। इन सब परिणामोंसे वह बिलकुल अलग-सा रहता है। हम अपने कर्मोंमें अनासक्ति रखें, अलिप्तता लायें, तब ऐसा मानना चाहिए कि हमारे जीवनमें 'तत्' नाम प्रविष्ट हुआ।

२६. इस प्रकार गीताने यह ॐ तत्सत् वैदिक नाम लेकर अपनी सब क्रियाओंको ईश्वरार्पण करना सिखाया है। पिछले नवें अध्यायमें सब कर्मोंको ईश्वरार्पण करनेका विचार आया है। 'यत्करोषि यदश्नासि' इस श्लोकमें यही कहा गया है। इसी बातका सत्रहवें अध्यायमें विवरण दिया गया है। परमेश्वरार्पण करनेकी क्रिया सात्त्विक होनी चाहिए, तभी वह परमेश्वरार्पण की जा सकेगी—यह बात यहाँ विशेष रूपसे बतायी गयी है।

१००. पापहारि हरिनाम

२७. यह सब ठीक है, परन्तु यहाँ एक प्रश्न उठता है कि यह 'ॐ तत्सत्' नाम पवित्र पुरुषको ही पच सकता है, पापी पुरुष क्या करे? पापियोंके मुँहमें भी सुशोभित होने योग्य कोई नाम है या नहीं? 'ॐ तत्सत्' नाममें वह भी शक्ति है। ईश्वरके किसी भी नाममें असत्यसे सत्यकी ओर ले जानेकी शक्ति रहती है। वह पापसे निष्पापकी ओर ले जा सकती है। जीवनकी शुद्धि धीरे-धीरे करनी चाहिए। परमात्मा अवश्य सहायता करेगा। तुम्हारी दुर्बलताके समय वह तुम्हें सहायता देगा।

२८. यदि कोई मुझे कहे कि "एक ओर पुण्यमय किन्तु अहंकारी जीवन और दूसरी ओर पापमय, किन्तु नम्र जीवन—इनमेंसे किसी एकको पसन्द करो", तो यदि मैं मुँहसे न भी बोल सकूँ, फिर भी अन्तःकरणसे कहूँगा कि "जिस पापसे मुझे परमेश्वरका स्मरण रहता है, वही मुझे मिलने दो!" मेरा मन यही कहेगा कि अगर पुण्यमय जीवनसे परमात्माकी विस्मृति हो जाती है, तो जिस पापमय जीवनसे उसकी याद आती है, उसीको ले। इसका अर्थ यह नहीं कि मैं पापमय जीवनका

समर्थन कर रहा हूँ। परन्तु पाप उतना पाप नहीं है, जितना कि पुण्यका अहंकार पाप है।

बहु भित्तों जाणपणा । आड न यो नारायणा ॥

‘कहीं यह सुजानपन, नारायण रोक न दे !’—ऐसा तुकारामने कहा है। वह बड़प्पन नहीं चाहिए। उसकी अपेक्षा तो पापी, दुःखी होना ही अच्छा है।

जाणतें लेंकरूं । माता लागे दूर घरूं ॥

‘जो बच्चे ज्ञानी हैं, उन्हें माँ भी दूर रखती है।’

परन्तु अज्ञानी बालकोंको माँ अपनी गोदमें उठा लेगी। मैं स्वावलम्बी पुण्यवान् नहीं होना चाहता। ‘परमेश्वरावलम्बी पापी’ होना ही मुझे प्रिय है। परमात्माकी पवित्रता मेरे पापको समाकर भी बचने जैसी है। हम पापोंको रोकनेका प्रयत्न करें। यदि वे नहीं रुके, तो हृदय रोने लगेगा। मन छटपटाने लगेगा। तब ईश्वरकी याद आयेगी। वह तो खड़ा-खड़ा तमाशा देख रहा है। पुकार करो—“मैं पापी हूँ, इसीलिए तेरे द्वारे आया हूँ।” पुण्यवान्को ईश्वर-स्मरणका अधिकार है; क्योंकि वह पुण्यवान् है। पापीको ईश्वर-स्मरणका अधिकार है, क्योंकि वह पापी है।

रविवार, १२-६-'३२

उपसंहार

१८. फलत्यागकी पूर्णता-इश्वर-प्रसाद

१०१. अर्जुनका अन्तिम प्रश्न

१. मेरे भाइयो, आज ईश्वरकी कृपासे हम अठारहवें अध्यायतक आ पहुँचे हैं। प्रतिक्षण बदलनेवाले इस विश्वमें किसी भी संकल्पको पूर्णता-तक ले जाना परमेश्वरकी इच्छापर निर्भर है। इसमें भी जेलमें तो कदम-

कदमपर अनिश्चितता अनुभव होती है। यहाँ कोई काम शुरू करनेपर फिर यहीं उसके पूरा हो जानेकी अपेक्षा रखना कठिन है। आरम्भ करते समय ऐसी अपेक्षा नहीं थी कि हमारी यह गीता यहाँ पूरी हो सकेगी। लेकिन ईश्वर-इच्छासे हम समाप्तितक आ पहुँचे हैं।

२. चौदहवें अध्यायमें जीवनके अथवा कर्मके सात्त्विक, राजस और तामस, ये तीन भेद किये गये। इन तीनोंमेंसे राजस और तामसका त्याग करके सात्त्विकको ग्रहण करना है, यह भी हमने देखा। उसके बाद सत्रहवें अध्यायमें यही बात दूसरे ढंगसे कही गयी है। यज्ञ, दान और तप या एक ही शब्दमें कहें, तो 'यज्ञ' ही जीवनका सार है। सत्रहवें अध्यायमें हमने ऐसी ध्वनि सुनी कि यज्ञोपयोगी जो आहारादि कर्म हैं, उन्हें सात्त्विक और यज्ञरूप बनाकर ही ग्रहण करें। केवल उन्हीं कर्मोंको अंगीकार करें, जो यज्ञरूप और सात्त्विक हैं, शेष कर्मोंका त्याग ही उचित है। हमने यह भी देखा कि 'ॐ तत्सत्' मंत्रको क्यों स्मरण रखना चाहिए। 'ॐ' का अर्थ है, सातत्य। 'तत्' का अर्थ है, अलिप्तता और 'सत्' का अर्थ है, सात्त्विकता। हमारी साधनामें सातत्य, अलिप्तता और सात्त्विकता होनी चाहिए। तभी वह परमेश्वरको अर्पण की जा सकेगी। इन सब बातोंसे ऐसा लगता है कि कुछ कर्म तो हमें करने हैं और कुछका त्याग करना है।

गीताकी सारी शिक्षापर हम दृष्टि डालें, तो स्थान-स्थानपर यही बोध मिलता है कि कर्मका त्याग न करो। गीता कर्म-फलके त्यागकी बात कहती है। गीतामें सर्वत्र यही शिक्षा दी गयी है कि कर्म तो सतत करो, परन्तु फलका त्याग करते रहें; लेकिन यह एक पहलू हुआ। दूसरा पहलू यह मालूम पड़ता है कि कुछ कर्म किये जायँ और कुछका त्याग किया जाय। अतः अंततः अठारहवें अध्यायके आरम्भमें अर्जुनने प्रश्न किया—“एक पक्ष तो यह कि कोई भी कर्म फल-त्यागपूर्वक करो और दूसरा यह कि कुछ कर्म तो अवश्यमेव त्याज्य हैं और कुछ करने योग्य हैं, इन दोनोंमें मेल कैसे बिठाया जाय?” जीवनकी दिशा स्पष्ट जाननेके लिए यह प्रश्न है। फल-त्यागका मर्म समझनेके लिए यह प्रश्न है। जिसे शास्त्र

‘संन्यास’ कहता है, उसमें कर्म स्वरूपतः छोड़ना होता है। अर्थात् कर्मके स्वरूपका त्याग करना होता है। फलत्यागमें कर्मका फलतः त्याग करना होता है। अब प्रश्न यह है कि क्या गीताके फल-त्यागको प्रत्यक्ष कर्म-त्यागकी आवश्यकता है? क्या फल-त्यागकी कसौटीमें संन्यासका कोई उपयोग है? संन्यासकी मर्यादा कहाँ तक है? संन्यास और फल-त्याग, इन दोनोंकी मर्यादा कहाँ तक और कितनी है? अर्जुनका यही प्रश्न है।

१०२. फल-त्याग सार्वभौम कसौटी

३. उत्तरमें भगवान् ने एक बात स्पष्ट कह दी है कि फल-त्यागकी कसौटी सार्वभौम वस्तु है। फल-त्यागका तत्त्व सर्वत्र लागू किया जा सकता है। सब कर्मोंके फलोंका त्याग तथा राजस और तामस कर्मोंका त्याग, इन दोनोंमें विरोध नहीं है। कुछ कर्मोंका स्वरूप ही ऐसा होता है कि फल-त्यागकी युक्तिका उपयोग करें, तो वे कर्म स्वतः ही गिर पड़ते हैं। फल-त्यागपूर्वक कर्म करनेका तो यही अर्थ होता है कि कुछ कर्म छोड़ने ही चाहिए। फल-त्यागपूर्वक कर्म करनेमें कुछ कर्मोंके प्रत्यक्ष त्यागका समावेश हो ही जाता है।

४. इसपर जरा गहराईसे विचार करें। जो कर्म काम्य हैं, जिनके मूलमें कामना है, उन्हें फल-त्यागपूर्वक करो—ऐसा कहते ही वे ढह जाते हैं। फल-त्यागके सामने काम्य और निषिद्ध कर्म खड़े ही नहीं रह सकते। फल-त्यागपूर्वक कर्म करना कोई केवल कृत्रिम, तांत्रिक और यांत्रिक क्रिया तो है नहीं। इस कसौटीके द्वारा यह अपने-आप मालूम हो जाता है कि कौन-से कर्म किये जायँ और कौन-से नहीं। कुछ लोग कहते हैं कि ‘गीता केवल यही बताती है कि फल-त्यागपूर्वक कर्म करो; पर यह नहीं बताती कि कौन-से कर्म करो।’ ऐसा भास तो होता है, परन्तु वस्तुतः ऐसा है नहीं; क्योंकि, ‘फल-त्यागपूर्वक कर्म करो’ इतना कहनेसे ही पता चल जाता है कि कौन-से कर्म करें और कौन-से नहीं। हिंसात्मक कर्म, असत्यमय कर्म, चौर्य कर्म फल-त्यागपूर्वक किये ही नहीं जा सकते। फल-त्यागकी कसौटीपर कसते ही ये कर्म हवामें उड़ जाते हैं। सूर्यकी प्रभा

फैलते ही सब चीजें उजली दिखाई देने लगती हैं; पर अँधेरा भी क्या उजला दिखाई देता है ? वह तो नष्ट ही हो जाता है। ऐसी ही स्थिति निषिद्ध और काम्य कर्मोंकी है। हमें सब कर्म फल-त्यागकी कसौटीपर कस लेने चाहिए। पहले यह देख लेना चाहिए कि जो कर्म मैं करना चाहता हूँ, वह अनासक्तिपूर्वक फलकी लेशमात्र भी अपेक्षा न रखते हुए करना संभव है क्या ? फल-त्याग ही कर्म करनेकी कसौटी है। इस कसौटीके अनुसार काम्य कर्म अपने-आप ही त्याज्य सिद्ध होते हैं। उनका तो त्याग ही उचित है। अब बचे शुद्ध सात्त्विक कर्म। वे अनासक्तिपूर्वक अहंकार छोड़कर करने चाहिए। काम्य कर्मोंका त्याग भी तो एक कर्म ही हुआ। फल-त्यागकी कैची उसपर भी चलाओ। फिर काम्य कर्मोंका त्याग भी सहज रूपसे होना चाहिए।

इस प्रकार तीन बातें हमने देखीं। पहली तो यह कि जो कर्म हमें करने हैं, वे फल-त्यागपूर्वक करने चाहिए। दूसरी यह कि राजस और तामस कर्म—निषिद्ध और काम्य कर्म—फल-त्यागकी कसौटीपर कसते ही अपने-आप गिर जाते हैं। तीसरी यह कि इस तरह जो त्याग होगा, उसपर भी फल-त्यागकी कैची चलाओ। मैंने इतना त्याग किया, ऐसा अहंकार न होने देना चाहिए।

५. राजस और तामस कर्म त्याज्य क्यों हैं ? इसलिए कि वे शुद्ध नहीं हैं। शुद्ध न होनेसे उन कर्मोंका कतकि चित्तपर संस्कार पड़ता है; परन्तु अधिक विचार करनेपर पता चलता है कि सात्त्विक कर्म भी सदाप होते हैं। जितने भी कर्म हैं, उन सबमें कुछ-न-कुछ दोष हैं ही। खेतीका स्वधर्म ही लो। यह एक शुद्ध सात्त्विक क्रिया है; लेकिन इस यज्ञभय स्वधर्मरूप खेतीमें भी हिंसा तो होती ही है; हल जोतने आदिमें कितने ही जन्तु मरते हैं। कुएँके पास कीचड़ न होने देनेके लिए वहाँ पत्थर बैठानेमें भी कितने ही जीव-जन्तु मरते हैं। सबेरे दरवाजा खोलते ही सूर्यका प्रकाश घरमें प्रवेश करता है, उससे असंख्य जन्तु नष्ट हो जाते हैं। जिसे 'शुद्धीकरण' कहते हैं, वह भी मारण-क्रिया ही हो जाती है।

सारांश, जब सात्त्विक स्वधर्मरूप कर्म भी सदोष हो जाता है, तब क्या करें ?

६. मैं पहले ही कह चुका हूँ कि सब गुणोंका विकास होना तो अभी बाकी है। हमें ज्ञान, भक्ति, सेवा, अहिंसा—इनके बिंदुमात्रका ही अभी अनुभव हुआ है। सारा-का-सारा अनुभव हो चुका है, ऐसी बात नहीं है। संसार अनुभव लेकर आगे बढ़ता जाता है। मध्ययुगमें एक ऐसी कल्पना चली कि खेतीमें हिंसा होती है, इसलिए अहिंसक व्यक्ति खेती न करे। वह व्यापार करे। अन्न उपजाना पाप है, पर कहते थे कि अन्न बेचना पाप नहीं। लेकिन इस तरह क्रियाको टालनेसे हित नहीं हो सकता। यदि मनुष्य इस तरह कर्म-संकोच करता चला जाय, तो अन्तमें आत्मनाश ही होगा। मनुष्य कर्मसे छूटनेका ज्यों-ज्यों विचार करेगा, त्यों-त्यों कर्मका अधिक विस्तार होता जायगा। आपके इस धान्यके व्यापारके लिए क्या किसीको खेतो न करनी पड़ेगी ? तब क्या उस खेतीसे होनेवाली हिंसाके आप हिस्सेदार न होंगे ? अगर कपास उपजाना पाप है, तो उस उपजी हुई कपासको बेचना भी पाप है। कपास पैदा करनेमें दोष है, इसलिए उस कर्मको ही छोड़ देना बुद्धि-दोष होगा। सब कर्मोंका बहिष्कार करना—यह कर्म नहीं, वह कर्म नहीं, कुछ मत करो, इस प्रकार देखने-वाली दृष्टिमें, कहना होगा कि सच्चा दयाभाव शेष नहीं रहा, बल्कि वह मर गया। पत्ते नोचनेसे पेड़ नहीं मरता, वह तो उल्टा पल्लवित होता है। क्रियाका संकोच करनेमें आत्म-संकोच ही है।

१०३. क्रियासे छूटनेकी सच्ची रीति

७. अब यह प्रश्न होता है कि यदि सब क्रियाओंमें दोष हैं, तो फिर सब क्रियाओंको छोड़ ही क्यों न दें ? इसका उत्तर पहले एक बार दिया जा चुका है। सब कर्मोंका त्याग करनेकी कल्पना बड़ी सुन्दर है। यह विचार मोहक है। पर ये असंख्य कर्म आखिर छोड़ें कैसे ? राजस और तामस कर्मोंके छोड़नेकी जो रीति है, क्या वही सात्त्विक कर्मोंके लिए उपयुक्त होगी ? जो दोषमय सात्त्विक कर्म हैं, उन्हें कैसे टालें ? मजा तो यह है कि 'सेन्द्राय तक्षकाय स्वाहा', की तरह जब मनुष्य संसारमें करने

लगता है, तब अमर होनेके कारण इन्द्र तो मरता ही नहीं, बल्कि तक्षक भी न मरते हुए उल्टा मजबूत हो बैठता है। सात्त्विक कर्मोंमें पुण्य है और थोड़ा दोष है। परन्तु थोड़ा दोष होनेके कारण यदि उस दोषके साथ पुण्यकी भी आहुति देना चाहोगे, तो मजबूत होनेके कारण पुण्य-क्रिया तो नष्ट नहीं ही होगी, दोष-क्रिया अवश्य ही बढ़ती चली जायगी। ऐसे मिश्रित, विवेकहीन त्यागसे पुण्यरूप इन्द्र तो मरता ही नहीं, पर मर सकनेवाला दोषरूप तक्षक भी नहीं मरता। इसलिए उनके त्यागकी रीति कौन-सी? बिल्ली हिंसा करती है, इसलिए उसका त्याग करेंगे, तो चूहे हिंसा करने लगेंगे। साँप हिंसा करते हैं, इसलिए अगर उन्हें दूर किया, तो सैकड़ों जन्तु खेती नष्ट कर डालेंगे। खेतीका अनाज नष्ट होनेमे हजारों मनुष्य मर जायेंगे। इसलिए त्याग विवेकयुक्त होना चाहिए।

८. गोरखनाथसे मच्छीन्द्रनाथने कहा—“इस लड़केको धो लाओ!” गोरखनाथने लड़केके पैर पकड़कर उसे शिलापर पछाड़ डाला और बाड़-पर सुखाने डाल दिया। मच्छीन्द्रनाथने पूछा—“लड़केको धो लाये?” गोरखनाथने उत्तर दिया—“हाँ, उसे धो-धाकर सुखाने डाल दिया है!” लड़केको क्या इस तरह धोया जाता है? कपड़े और मनुष्य धोनेका ढंग एक-सा नहीं है। इन दोनों ढंगोंमें बड़ा अन्तर है। इसी तरह राजस-तामस कर्मोंके त्याग तथा सात्त्विक कर्मके त्यागमें बड़ा अन्तर है। सात्त्विक कर्म छोड़नेकी रीति दूसरी है।

विवेकहीन होकर कर्म करनेसे तो कुछ उलट-पुलट ही हो जायगा। तुकारामने कहा : “त्यागें भोग माझ्या येतील अंतरा। मग मी दातारा काय करूँ।”—‘त्यागसे जो भीतर भोग उगे, तब हे दाता ! मैं क्या करूँ?’ छोटा त्याग करने जाते हैं, तो बड़ा भोग आकर छातीपर बैठ जाता है। इसलिए वह अल्प-सा त्याग भी मिथ्या हो जाता है। छोटेसे त्यागकी पूर्ति-के लिए बड़े-बड़े इन्द्रभवन खड़े करते हैं। इससे तो वह श्लोपड़ी ही अच्छी थी। वही पर्याप्त थी। लँगोटी लगाकर आसपास वैभव इकट्ठा करनेसे तो कुरता और बंडी ही अच्छी। इसीलिए भगवान्ने सात्त्विक कर्मोंके त्यागकी

पद्धति ही अलग बतायी है। वे सभी सात्त्विक कर्म तो करने हैं, लेकिन उनके फलोंको तोड़ फेंकना है। कुछ कर्म तो समूल त्याज्य हैं और कुछके सिर्फ फल ही छोड़ने होते हैं। शरीरपर कोई ऐसा-वैसा दाग पड़ जाय तो उसको धोकर मिटाया जा सकता है; पर चमड़ीका रंग ही काला है, तो उसपर कलई करनेसे क्या लाभ ? यह काला रंग ज्यों-का-त्यों रहने दो। उसकी तरफ देखते ही क्यों हो ? उसे अमंगल न कहो।

९. एक आदमी था। उसे अपना घर अमंगल प्रतीत होने लगा, तो वह किसी गाँवमें चला गया। वहाँ उसे गंदगी दिखाई दी, तो जंगलमें चला गया। जंगलके एक आमके पेड़के नीचे बैठा ही था कि एक पक्षीने उसके सिरपर बीट कर दी। 'यह जंगल भी अमंगल है'—ऐसा कहकर वह नदीमें जा खड़ा हुआ। नदीमें उसने देखा कि बड़ी मछलियाँ छोटी मछलियोंको खा रही हैं, तब तो उसे बड़ी चिन लगी। 'अरे, चलो, यह तो सारी सृष्टि ही अमंगल है। यहाँ मरे बिना छुटकारा नहीं', ऐसा सोचकर वह पानीसे बाहर आया और आग जलायी। उधरसे एक सज्जन आये और बोले—“भाई, यह मरनेकी तैयारी क्यों ?” “यह संसार अमंगल है इसलिए !”—वह बोला। उस सज्जनने उत्तर दिया—“तेरा यह गंदा शरीर, यह चरबी यहाँ जलने लगेगी, तो यहाँ कितनी बदबू फैलेगी ! हम यहाँ पास ही रहते हैं। तब हम कहाँ जायँगे ? एक बालके जलनेसे ही कितनी दुर्गन्ध आती है ! फिर तेरी तो सारी चरबी जलेगी ! कितनी दुर्गन्ध फैलेगी, इसका भी तो कुछ विचार कर !” वह आदमी परेशान होकर बोला—“इस दुनियामें न जीनेकी सुविधा है और न मरनेकी ही, तो अब क्या करूँ ?”

१०. तात्पर्य यह कि 'अमंगल-अमंगल'—ऐसा कहकर सबका बहिष्कार करेंगे, तो काम नहीं चलेगा। यदि तुम छोटे कर्मोंसे बचना चाहोगे, तो दूसरे बड़े कर्म सिरपर सवार हो जायँगे। कर्म स्वरूपतः बाहरसे छोड़नेपर नहीं छूटते। जो कर्म सहज रूपसे प्रवाह-प्राप्त हैं, उनका विरोध करनेमें अगर कोई अपनी शक्ति खर्च करेगा—प्रवाहके विरुद्ध जाना चाहेगा, तो अन्तमें वह थककर प्रवाहके साथ बह जायगा। प्रवाहानुकूल क्रियाके

द्वारा ही उसे अपने तरनेका उपाय सोचना चाहिए। इससे मनपरका लेप कम होगा और चित्त शुद्ध होता जायगा। फिर धीरे-धीरे क्रिया अपने-आप समाप्त होता जायगी। कर्म-त्याग न होते हुए भी क्रियाएँ लुप्त हो जायँगी। कर्म छूटेगा ही नहीं, क्रिया लुप्त हो जायगी।

११. कर्म और क्रिया दोनोंमें अन्तर है। मान लें कि कहींपर खूब गुलगपाड़ा मचा हुआ है और उसे बन्द करना है। एक सिपाही स्वयं जोरसे चिल्लाकर कहता है—“शोर बन्द करो।” वहाँका शोर बन्द करने-के लिए उसे जोरसे चिल्लानेकी तीव्र क्रिया करनी पड़ी। दूसरा कोई आकर चुपचाप खड़ा रहेगा और केवल अपनी अँगुली उठाकर इशारा करेगा। इतनेसे ही लोग शांत हो जायँगे। तीसरे व्यक्तिके केवल वहाँ उपस्थित होनेमात्रसे ही शांति छा जायगी। एकको तीव्र क्रिया करनी पड़ी। दूसरेकी क्रिया कुछ सौम्य थी और तीसरेकी सूक्ष्म। क्रिया उत्तरोत्तर कम होती गयी, किन्तु लोगोंको शांत करनेका काम समान रूपसे हुआ। जैसे-जैसे चित्त-शुद्धि होती जायगी, वैसे-ही-वैसे क्रियाकी तीव्रतामें कमी होगी। तीव्रसे सौम्य, सौम्यसे सूक्ष्म और सूक्ष्मसे शून्य होती जायगी। कर्म भिन्न है और क्रिया भिन्न। कर्ताको जो अत्यन्त इष्ट हो, वह कर्म—यही कर्मकी व्याख्या। कर्मकी प्रथमा और द्वितीया विभक्ति होती है, तो क्रियाके लिए स्वतन्त्र क्रियापद लगाना पड़ता है।

कर्म और क्रियाओंमें जो अन्तर है, उसे समझ लीजिये। क्रोध आनेपर कोई बहुत बोलकर और कोई बिल्कुल ही न बोलकर अपना क्रोध प्रकट करता है। ज्ञानी पुरुष लेशमात्र भी क्रिया नहीं करता; किन्तु कर्म अनन्त करता है। उसका अस्तित्वमात्र ही अपार लोक-संग्रह कर सकता है। ज्ञानी पुरुषकी तो केवल उपस्थिति ही पर्याप्त है। उसके हाथ-पैर आदि अवयव कुछ कार्य न करते हों, तो भी वह काम करता है, क्रिया सूक्ष्म होती है। कर्म उल्टे बढ़ते जाते हैं। विचारकी यह धारा और आगे ले जायँ एवं चित्त परिपूर्ण शुद्ध हो जाय, तो अन्तमें क्रिया शून्यरूप होकर कर्म अनन्त होते रहेंगे, ऐसा कह सकते हैं। पहले तीव्र, फिर तीव्रसे सौम्य, सौम्यसे सूक्ष्म और सूक्ष्मसे शून्य—इस तरह

अपने-आप क्रियाशून्यत्व प्राप्त हो जायगा । परन्तु तब अनन्त कर्म स्वतः होते रहेंगे ।

१२. बाह्यरूपेण कर्म हटानेसे वे दूर नहीं होंगे । निष्कामतापूर्वक कर्म करते हुए धीरे-धीरे उसका अनुभव होगा । कवि ब्राउनिंगने 'दोंगी पोप' शीर्षक एक कविता लिखी है । एक आदमीने पोपसे कहा—“तुम अपनेको इतना सजाते क्यों हो ? ये चोगे किसलिए ? ये ऊपरी ढोंग क्यों ? यह गभमीर मुद्रा किसलिए ?” उसने उत्तर दिया—“मैं यह सब क्यों करता हूँ, सो सुनो । संभव है, यह नाटक, यह नकल करते-करते किसी दिन अनजानमें ही भुझमें श्रद्धाका संचार हो जाय ।” इसलिए निष्काम क्रिया करते रहना चाहिए । धीरे-धीरे निष्क्रियत्व भी प्राप्त हो जायगा ।

१०४. साधकके लिए स्वधर्मका हल

१३. सारांश यह कि तामस और राजस कर्म तो बिल्कुल छोड़ देने चाहिए और सात्त्विक कर्म करने चाहिए । इसके साथ ही यह विवेक रखना चाहिए कि जो सात्त्विक कर्म सहज और स्वाभाविक रूपसे सामने आ जायँ, वे सदोष होते हुए भी त्याज्य नहीं हैं । दोष होता है तो होने दो । उस दोषसे पीछा छुड़ाना चाहोगे, तो दूसरे दोष पल्ले आ पड़ेंगे । अपनी नकटी नाक जैसी है, वैसी ही रहने दो । उसे काटकर सुन्दर बनानेकी कोशिश करोगे, तो वह और भी भयानक तथा भद्दी दीखेगी । वह जैसी है, वैसी ही अच्छी है । सात्त्विक कर्म सदोष होनेपर भी स्वाभाविक रूपसे प्राप्त होनेके कारण नहीं छोड़ने चाहिए । उन्हें करना है, लेकिन उनका फल छोड़ना है ।

१४. और एक बात कहनी है । जो कर्म सहज, स्वाभाविक रूपसे प्राप्त न हुए हों, उनके बारेमें तुम्हें ऐसा लगता हो कि वे अच्छी तरह किये जा सकते हैं, तो भी उन्हें मत करो । उतने ही कर्म करो, जितने सहज रूपसे प्राप्त हों । उखाड़-पछाड़ और दौड़-धूप करके दूसरे नये कर्मोंका भार मत उठा लो । जिन कर्मोंको खास तौरपर जोड़-तोड़ लगाकर

करना पड़ता हो, वे कितने ही अच्छे क्यों न हों, उनसे दूर रहो। उनका मोह न करो। जो कर्म सहजप्राप्त हैं, उन्हींके फलका त्याग हो सकता है। यदि मनुष्य इस लोभसे कि यह कर्म भी अच्छा है और वह कर्म भी अच्छा है, चारों ओर दौड़ने लगे, तो फिर कैसा फल-त्याग ? उससे तो सारा जीवन ही बरबाद हो जायगा। फलकी आशासे ही वह इन पर-धर्मरूपी कर्मोंको करना चाहेगा और फल भी हाथसे खो बैठेगा। जीवनमें कहीं भी स्थिरता प्राप्त नहीं होगी। चित्तपर उस कर्मकी आसक्ति चिपट जायगी। अगर सात्त्विक कर्मोंका भी लोभ होने लगे, तो वह लोभ भी दूर करना चाहिए। उन नाना प्रकारके सात्त्विक कर्मोंको यदि करना चाहेंगे, तो उसमें भी राजसता और तामसता आ जायगी। इसलिए तुम वही करो, जो तुम्हारा सात्त्विक, स्वाभाविक और सहजप्राप्त स्वधर्म है।

१५. स्वधर्ममें स्वदेशी धर्म, स्वजातीय धर्म और स्वकालीन धर्मका समावेश होता है। इन तीनोंके योगसे स्वधर्म बनता है। मेरी वृत्तिके अनुकूल और अनुरूप क्या है और कौन-सा कर्तव्य मुझे प्राप्त हुआ है, यह सब स्वधर्म निश्चित करते समय दीखता है। तुममें 'तुमपन' जैसी कोई चीज है और इसलिए तुम 'तुम' हो। प्रत्येक व्यक्तिमें उसकी अपनी कुछ विशेषता होती है। बकरीका विकास बकरी बने रहनेमें हो है। बकरी रहकर ही उसे अपना विकास कर लेना चाहिए। बकरी अगर गाय बनना चाहे, तो यह उसके लिए संभव नहीं। वह स्वयंप्राप्त बकरीपनका त्याग नहीं कर सकती। इसके लिए उसे शरीर छोड़ना पड़ेगा। नया धर्म और नया जन्म ग्रहण करना होगा; परन्तु इस जन्ममें तो उसके लिए बकरीपन ही पवित्र है। बैल और मेंढकीकी कहानी है न ? मेंढकीके बढ़नेकी एक सीमा है। वह बैल जितनी होनेका प्रयत्न करेगी, तो मर जायगी। दूसरेके रूपकी नकल करना ठीक नहीं होता। इसीलिए परधर्म-को 'भयावह' कहा गया है।

१६. फिर स्वधर्मके भी दो भाग हैं। एक बदलनेवाला भाग, दूसरा न बदलनेवाला। मैं आज जो हूँ, वह कल नहीं और कल जो हूँ, वह परसों

नहीं। मैं निरन्तर बदल रहा हूँ। बचपनका स्वधर्म होता है, केवल संवर्धन। यौवनमें मुझमें भरपूर कर्म-शक्ति रहेगी, तो उसके द्वारा मैं समाजकी सेवा करूँगा। प्रौढ़ावस्थामें मेरे ज्ञानका लाभ दूसरोंको मिलेगा। इस तरह कुछ स्वधर्म तो बदलता रहनेवाला है और कुछ न बदलनेवाला। इन्हींको यदि पुराने शास्त्रीय नामोंसे पुकारना है, तो हम कहेंगे—“मनुष्यका वर्ण-धर्म है और आश्रम-धर्म है।” वर्ण-धर्म नहीं बदलता, आश्रम-धर्म बदलता रहता है।

आश्रम-धर्म बदलता है—इसका अर्थ यह है कि ब्रह्मचारी-पद सार्थक करके मैं गृहस्थाश्रममें प्रवेश कर रहा हूँ, गृहस्थाश्रमसे वानप्रस्थ-आश्रममें और वानप्रस्थसे संन्यासमें जाता हूँ। इस तरह आश्रम-धर्म बदलता रहता है, तब भी वर्ण-धर्म बदला नहीं जा सकता। अपनी नैसर्गिक मर्यादा मैं छोड़ नहीं सकता। ऐसा प्रयत्न ही मिथ्या है। तुममें जो ‘तुमपन’ है, उसे तुम छोड़ नहीं सकते। इसी कल्पनापर वर्ण-धर्मकी योजना की गयी है। वर्ण-धर्मकी कल्पना बड़ी मधुर है। वर्ण-धर्म बिल्कुल अटल है क्या? जैसे बकरीका बकरीपन, गायका गायपन है, वैसे ही क्या ब्राह्मणका ब्राह्मणत्व, क्षत्रियका क्षत्रियत्व है? मैं मानता हूँ कि वर्ण-धर्म इतना पक्का नहीं है; लेकिन हमें इसका मर्म समझ लेना चाहिए। ‘वर्ण-धर्म’ का उपयोग जब सामाजिक व्यवस्थाकी एक युक्तिके रूपमें किया जाता है, तब उसमें अपवाद अवश्य होगा। ऐसा अपवाद मानना ही पड़ता है। गीताने भी इस अपवादको माना है। सारांश, इन दोनों प्रकारोंके धर्मोंको पहचानकर अन्तर धर्म कितना ही सुन्दर और मोहक प्रतीत हो, तो भी उसे टालना चाहिए।

१०५. फलत्यागका कुल मिलाकर फलितार्थ

१७. फल-त्यागकी कल्पनाका जो विकास हम करते आये हैं, उससे निम्नलिखित अर्थ निकला -

(१) राजस और तामस कर्मोंका संपूर्ण त्याग।

(२) उस त्यागका भी फल-त्याग। उसका भी अहंकार न हो।

(३) सात्त्विक कर्मोंका स्वरूपतः त्याग न करते हुए केवल फल-त्याग ।

(४) सात्त्विक-कर्म, जो फल-त्यागपूर्वक करने होते हैं, सदोष हों तो भी करना ।

(५) सतत फल-त्यागपूर्वक उन सात्त्विक कर्मोंको करते रहनेसे चित्त शुद्ध होता जायगा और तीव्रसे सौम्य, सौम्यसे सूक्ष्म और सूक्ष्मसे शून्य— इस तरह क्रियामात्रका लोप हो जायगा ।

(६) क्रिया लुप्त हो जायगी, लेकिन कर्म-लोकसंग्रहणी कर्म-होते ही रहेंगे ।

(७) सात्त्विक कर्म भी, जो स्वाभाविक रूपसे प्राप्त हों, वे ही करें । जो सहजप्राप्त न हों, वे कितने ही अच्छे लगें तो भी उन्हें दूर ही रखें । उनका मोह न करें ।

(८) सहजप्राप्त स्वधर्म भी फिर दो प्रकारका होता है—बदलने-वाला और न बदलनेवाला । वर्ण-धर्म नहीं बदलता, पर आश्रम-धर्म बदलता रहता है । बदलनेवाला स्वधर्म बदलते रहना चाहिए । उससे प्रकृति विशुद्ध रहेगी ।

१८. प्रकृति बहती रहनी चाहिए । निर्झर बहता न रहेगा, तो उससे दुर्गंध आने लगेगी । यही हाल आश्रम-धर्मका है । मनुष्य पहले कुटुम्बको स्वीकार करता है । अपने विकासके लिए वह स्वयंको कुटुम्बके बंधनोंमें बांध लेता है । यहाँ वह तरह-तरहके अनुभव प्राप्त करता है; परन्तु कुटुम्बी बनकर वह उसीमें जकड़ जायगा तो विनाश होगा । कुटुम्बमें रहना जो पहले धर्मरूप था, वही अधर्मरूप हो जायगा; क्योंकि अब वह धर्म बंधनकारी हो गया । बदलनेवाले धर्मको आसक्तिके कारण न छोड़ें, तो भयानक स्थिति उत्पन्न होगी । अच्छी चीजकी भी आसक्ति न होनी चाहिए । आसक्तिसे घोर अनर्थ होता है । क्षयके कीटाणु यदि भूलसे भी फेफड़ोंमें चले जाते हैं, तो सारा जीवन भीतरसे खा डालते हैं । उसी

तरह आसक्तिके कीटाणु भी असावधानीसे सात्त्विक कर्ममें घुस जायँगे, तो स्व-धर्म सड़ने लगेगा। उस सात्त्विक स्व-धर्ममें भी राजस और तामसकी दुर्गंध आने लगेगी। अतः कुटुम्बरूपी यह बदलनेवाला स्व-धर्म यथासमय छूट जाना चाहिए। यही बात राष्ट्र-धर्मके लिए भी है। राष्ट्र-धर्ममें भी अगर आसक्ति आ जाय और केवल अपने ही राष्ट्रके हितका विचार हम करने लगे, तो ऐसी राष्ट्र-भक्ति भी बड़ी भयंकर वस्तु होगी। इससे आत्म-विकास रुक जायगा। चित्तमें आसक्ति घर कर लेगी और अधःपात होगा।

१०६. साधनाकी पराकाष्ठा ही सिद्धि

१२. सारांश, यदि जीवनका फलित प्राप्त करना हो, तो फल-त्यागरूपी चित्तमणिको अपनाओ। वह आपका पथ-प्रदर्शन करेगा। फल-त्यागका यह तत्त्व अपनी मर्यादा भी बताता है। यह दीपक निकट होनेपर अपने-आप यह पता चल जायगा कि कौन-सा काम करें, कौन-सा न करें और कौन-सा कब बदलें।

२०. परन्तु अब एक दूसरा ही विषय विचारके लिए लेंगे। संपूर्ण क्रियाका लोप हो जानेकी जो अंतिम स्थिति है, उसपर साधकको ध्यान रखना चाहिए या नहीं? साधकको क्या ज्ञानी पुरुषकी उस स्थितिपर दृष्टि रखनी चाहिए, जिसमें क्रिया न करते हुए भी असंख्य कर्म होते रहें?

नहीं, यहाँ भी फल-त्यागकी ही कसौटीका उपयोग करना चाहिए। हमारे जीवनका स्वरूप इतना सुन्दर है कि हमें जो चाहिए, उसपर निगाह न रखनेपर भी वह हमें मिल जायगा। जीवनका सबसे बड़ा फल मोक्ष है। उस मोक्ष-उस अकर्मावस्था-का भी हमें लोभ न रहे। वह स्थिति तो हमें अपने-आप अनजाने प्राप्त हो जायगी। संन्यास कोई ऐसी वस्तु तो है नहीं कि दो बजकर पाँच मिनटपर अचानक आ मिलेगी। संन्यास यांत्रिक वस्तु नहीं है। उसका तेरे जीवनमें किस तरह विकास होता जायगा, तुझे इसका पता भी न चलेगा। इसलिए मोक्षकी चिन्ता छोड़।

२१. भक्त तो ईश्वरसे सदैव यही कहता है—“मेरे लिए यह भक्ति ही पर्याप्त है। मोक्ष—वह अंतिम फल—मुझे नहीं चाहिए।” मुक्ति भी तो एक प्रकारकी भुक्ति ही है। मोक्ष एक तरहका भोग ही तो है—एक फल ही तो है। इस मोक्षरूपी फलपर भी फल-त्यागकी कैची चलाओ, परन्तु इससे मोक्ष कहीं चला न जायगा। कैची टूट जायगी और फल अधिक पक्का हो जायगा। जब मोक्षकी आशा छोड़ दोगे, तभी अनजाने मोक्षकी तरफ चले जाओगे। इतनी तन्मयतासे साधना चलने दो कि मोक्षकी याद ही न रहे और मोक्ष तुझे खोजता हुआ तेरे सामने आ खड़ा हो जाय। साधक तो बस अपनी साधनामें ही रँग जाय।

मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ।

भगवान्ने पहले ही कहा था कि अकर्म-दशाकी, मोक्षकी आसक्ति मत रखो।

अब फिर अंतमें कहते हैं—अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः। मैं मोक्षदाता समर्थ हूँ। तू मोक्षकी चिंता मत कर। तू तो केवल साधनाकी ही चिंता कर।

मोक्षको भूल जानेसे साधना उत्कृष्ट होगी और मोक्ष ही मोहित होकर तेरे पास चला आयेगा। मोक्ष-निरपेक्ष वृत्तिसे अपनी साधनामें ही रत रहनेवाले साधकके गलेमें मोक्ष-लक्ष्मी जयमाला डालती है।

२२. जहाँ साधनाकी पराकाष्ठा होती है, वहीं सिद्धि हाथ जोड़कर खड़ी रहती है। जिसे घर जाना है, वह यदि वृक्षके नीचे ‘घर-घर’ का जाप करते बैठेगा, तो इससे घर तो दूर ही रहेगा, उल्टा उसे जंगलमें ही रहनेकी नौबत आ जायगी। घरका स्मरण करते हुए यदि रास्तेमें विश्राम करने लग जाओगे, तो उस अंतिम विश्रामस्थानसे दूर रह जाओगे। मुझे तो चलनेका ही प्रयत्न करना चाहिए। इसीसे घर एकदम सामने आ जायगा। मोक्षके आलसी स्मरणसे मेरे प्रयत्नमें—मेरी साधनामें—शिथिलता आयेगी और मोक्ष मुझसे दूर चला जायगा। मोक्षकी उपेक्षा करके सतत साधना-रत रहना ही मोक्षको पास बुलानेका उपाय है। अकर्म-स्थिति, विश्रान्तिकी लालसा मत रखो। साधनाका ही प्रेम

रखो, तो मोक्ष मिलकर रहेगा। उत्तर-उत्तर चिल्लानेसे प्रश्नका उत्तर नहीं मिलता। उसे हल करनेकी जो रीति आती है, उसीसे क्रमानुसार उत्तर मिलेगा। वह रीति जहाँ समाप्त होती है, वहीं उसका उत्तर रखा है। समाप्तिके पहले समाप्ति कैसे हो जायगी? रीतिसे पहले उत्तर कैसे मिलेगा? साधकावस्थामें सिद्धावस्था कैसे प्राप्त होगी? पानीमें डुबकियाँ खाते हुए परले पारके मौज-मजेमें ध्यान रहेगा, तो कैसे काम चलेगा? उस समय तो एक-एक हाथ मारकर आगे जानेमें ही सारा ध्यान और सारी शक्ति लगानी चाहिए। पहले साधना पूरी करो, समुद्र लाँघो मोक्ष अपने-आप मिल जायगा।

१०७. सिद्ध पुरुषकी तेहरो भूमिका

२३. ज्ञानी पुरुषकी अंतिम अवस्थामें सब क्रियाएँ लुप्त हो जाती हैं, व्यून्यरूप हो जाती हैं। पर इसका यह अर्थ नहीं कि अन्तिम स्थितिमें क्रिया होगी ही नहीं। उसके द्वारा क्रिया होगी भी और नहीं भी होगी। अन्तिम स्थिति अत्यन्त रमणीय और उदात्त है। इस अवस्थामें जो भी कुछ होगा, उसकी उसे चिन्ता नहीं होती। जो भी होगा, वह शुभ और सुन्दर ही होगा। साधनाकी पराकाष्ठाकी दशापर वह खड़ा है। वहाँ सब कर्म करनेपर भी वह कुछ नहीं करेगा। संहार करनेपर भी संहार नहीं करेगा। कल्याण करनेपर भी कल्याण नहीं करेगा।

२४. यह अन्तिम मोक्षावस्था ही साधककी साधनाकी पराकाष्ठा है। साधनाकी पराकाष्ठाका अर्थ है—साधनाकी सहजावस्था। वहाँ इस बातकी कल्पना भी नहीं रहती कि मैं कुछ कर रहा हूँ। अथवा इस दशाको मैं साधककी साधनाकी 'अनैतिकता' कहूँगा। सिद्धावस्था नैतिक अवस्था नहीं है। छोटा बच्चा सच बोलता है, पर वह नैतिक नहीं है, क्योंकि झूठ क्या है, इसकी तो उसे कल्पना ही नहीं है। असत्यकी कल्पना होनेपर सत्य बोलना नैतिक कर्म है। सिद्धावस्थामें असत्य है ही नहीं। वहाँ तो सत्य ही है। इसलिए वहाँ नीति नहीं। निषिद्ध वस्तु जहाँ खड़ी ही नहीं रह सकती, जो नहीं सुनना चाहिए वह कानके अन्दर जाता ही नहीं, जो वस्तु नहीं देखनी चाहिए वह आँखें देखती ही

नहीं, जो होना चाहिए वही हाथोंसे होता है, उसका प्रयत्न नहीं करना पड़ता, जिसे टालना चाहिए उसे टालना नहीं पड़ता, वह अपने-आप ही टल जाता है—ऐसी यह नीतिशून्य अवस्था है। यह जो साधनाकी पराकाष्ठा है, इसे साधनाकी सहजावस्था, अनैतिकता या अतिनैतिकता कहो, इस अतिनैतिकतामें ही नीतिका परम उत्कर्ष है। 'अतिनैतिकता' शब्द मुझे खूब सूझा। अथवा इस दशाको 'सात्त्विक साधनाकी निःसत्त्वता' भी कह सकते हैं।

२५. इस दशाका किस प्रकार वर्णन करें ? जिस तरह ग्रहणके पहले वेध लगता है, उसी तरह शरीरान्त हो जानेपर आनेवाली मोक्षदशाकी छाया देह गिरनेके पहले ही पड़ने लग जाती है। देहावस्थामें ही भावी मोक्षस्थितिका अनुभव होने लगता है। इस स्थितिका वर्णन करनेमें वाणी लड़खड़ाती है। वह कितनी भी हिंसा करे, फिर भी कुछ नहीं करता। उसकी क्रिया अब किस नापसे नापी जाय ? जो कुछ उसके द्वारा होगा, वह सब सात्त्विक कर्म ही होगा। सभी क्रियाओंके क्षय हो जानेपर भी संपूर्ण विश्वका वह लोक-संग्रह करेगा। इसके लिए किस भाषाका प्रयोग करें, यह समझमें नहीं आता।

२६. इस अन्तिम अवस्थामें तीन भाव रहते हैं—एक है वामदेवकी दशा। उनका यह प्रसिद्ध उद्गार है न—“इस विश्वमें जो कुछ भी है, वह मैं हूँ।” ज्ञानी पुरुष निरहंकार हो जाता है। उसका देहाभिमान नष्ट हो जाता है, क्रियामात्र समाप्त हो जाती है। इस समय उसे एक भावावस्था प्राप्त होती है। वह अवस्था एक देहमें समा नहीं सकती। भावावस्था क्रियावस्था नहीं है। भावावस्थाका अर्थ है—भावनाकी उत्कटताकी अवस्था। अल्प मात्रामें इस भावावस्थाका अनुभव हम सबको हो सकता है। बालकके दोषसे माता दोषी होती है। गुणोंसे गुणी होती है। उसके दुःखसे दुःखी और सुखसे सुखी होती है। माँकी यह भावावस्था संतानतक सीमित है। संतानके दोषोंको वह अपने दोष मान लेती है। ज्ञानी पुरुष भी भावनाकी उत्कटतासे सारे संसारके दोष अपने मान लेता है।

वह त्रिभुवनके पापसे पापी और पुण्यसे पुण्यवान् बनता है और ऐसा होनेपर भी त्रिभुवनके पाप-पुण्यसे वह लेशमात्र भी स्पृशित नहीं होता ।

२७. रुद्र-सूक्तमें ऋषि कहते हैं : “यवाश्च मे तिलाश्च मे गोधूमाश्च मे ।” मुझे जौ दे, तिल दे, गेहूँ दे । इस तरह माँगते ही रहनेवाले ऋषिका पेट आखिर कितना बड़ा होगा ? लेकिन वह माँगनेवाला साढ़े तीन हाथके शरीरका नहीं है । उसकी आत्मा विश्वाकार होकर बोलती है । इसे मैं ‘वैदिक विश्वात्मभाव’ कहता हूँ । वेदोंमें इस भावनाका परमोत्कर्ष दिखाई देता है ।

२८. गुजराती संत नरसी मेहता कीर्तन करते हुए कहते हैं—**बापूजी पाप मैं कवण कीधां हशे, नाम लेता तारूँ निद्रा आवे ।—‘हे ईश्वर, मैंने ऐसे कौन-से पाप किये हैं, जो कीर्तनके समय भी मुझे नींद आती है !’** नींद क्या नरसी मेहताको आ रही थी ? नींद तो श्रोताओंको आ रही थी । परन्तु श्रोताओंसे एकरूप होकर नरसी मेहता पूछ रहे हैं । यह उनकी भावावस्था है । ज्ञानी पुरुषकी ऐसी यह भावावस्था होती है । इस भावावस्थामें सभी पाप-पुण्य उसके द्वारा होते हुए तुम्हें दिखाई देंगे । वह स्वयं भी यही कहेगा । वे ऋषि कहते हैं न—“न करने योग्य कितने ही कार्य मैंने किये हैं, करता हूँ और करूँगा ।” यह भावावस्था प्राप्त होनेपर आत्मा पक्षीकी तरह उड़ने लगता है । वह पार्थिवताके परे चला जाता है ।

२९. इस भावावस्थाकी ही तरह ज्ञानी पुरुषकी एक क्रियावस्था भी होती है । ज्ञानी पुरुष स्वभावतः क्या करेगा ? वह जो कुछ करेगा, सात्त्विक ही होगा । यद्यपि मनुष्य-देहकी मर्यादा अभी उसके साथ लगी है, तब भी उसका सारा शरीर, उसकी सारी इन्द्रियाँ सात्त्विक बन गयी हैं, जिससे उसकी सारी क्रियाएँ सात्त्विक ही होंगी । व्यावहारिक दृष्टिसे देखेंगे, तो सात्त्विकताकी चरम सीमा उसके व्यवहारमें दिखाई देगी । विश्वात्म-भावकी दृष्टिसे देखेंगे, तो मानो त्रिभुवनके पाप-पुण्य वह करता है और इतनेपर भी वह अलिप्त रहता है; क्योंकि इस चिपके हुए शरीरको तो

उसने उतारकर फेंक दिया। क्षुद्र देहको उतारकर फेंकनेपर ही तो वह विश्व-रूप होगा।

३०. भावावस्था और क्रियावस्थाके अतिरिक्त एक तीसरी स्थिति भी ज्ञानी पुरुषकी है और वह है, ज्ञानावस्था। इस अवस्थामें न वह पाप सहन करता है, न पुण्य। सभी झटककर फेंक देता है। इस अखिल विश्वको सलाई लगाकर जला डालनेके लिए वह तैयार हो जाता है। एक भी कर्मकी जिम्मेदारी लेनेको वह तैयार नहीं होता है। उसका स्पर्श ही उसे सहन नहीं होता। ज्ञानी पुरुषकी मोक्षदशामें—साधनाकी पराकाष्ठाकी दशामें—ये तीन स्थितियाँ संभव हैं।

३१. यह अक्रियावस्था, अंतिम दशा कैसे प्राप्त हो? हम जो-जो भी कर्म करते हैं, उनका कर्तृत्व अपने सिरपर न लेनेका अभ्यास करना चाहिए। ऐसा मनन करो कि 'मैं तो निमित्तमात्र हूँ, कर्मका कर्तृत्व मुझपर नहीं है।' पहले इस अकर्तृत्ववादकी भूमिका नम्रतासे ग्रहण करो। किन्तु इसीसे सम्पूर्ण कर्तृत्व चला जायगा, सो नहीं। धीरे-धीरे इस भावनाका विकास होता जायगा। पहले तो ऐसा अनुभव होने दो कि मैं अतितुच्छ प्राणी हूँ, उसके हाथका खिलौना-कठपुतली हूँ, वह मुझे नचाता है। इसके बाद यह माननेका प्रयत्न करो कि यह जो कुछ भी किया जाता है, वह शरीरजात है; मेरा उससे स्पर्शतक नहीं। ये सब क्रियाएँ इस शवकी हैं, परन्तु मैं शव नहीं हूँ। 'मैं शव नहीं, शिव हूँ', ऐसी भावना करते रहो। देहके लेपसे लेशमात्र भी लिप्त न हो। ऐसा हो जानेपर मानो देहसे कोई संबंध ही नहीं है, ज्ञानीकी यह अवस्था प्राप्त हो जायगी। उस अवस्थामें फिर ऊपरकी तीन अवस्थाएँ होंगी। पहले उसकी क्रियावस्था, जिसमें उसके द्वारा अत्यन्त निर्मल और आदर्श क्रिया होगी। दूसरी भावावस्था, जिसमें त्रिभुवनके पाप-पुण्य मैं करता हूँ, ऐसा उसे अनुभव होगा, परन्तु उनका लेशमात्र स्पर्श उसे नहीं होगा; और तीसरी उसकी ज्ञानावस्था, जिसमें वह लेशमात्र भी कर्म अपने पास न रहने देगा। सब कर्म भस्मसात् कर देगा। इन तीनों अवस्थाओंके द्वारा ज्ञानी पुरुषका वर्णन किया जा सकता है।

१०८. “तुही...तुही...तुही...तुही”

३२. इतना सब कहनेके बाद भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—“अर्जुन, मैंने तुझे यह जो सब कहा है, उसे तूने ध्यानसे तो सुना है न ? अब पूर्ण विचार करके जो तुझे उचित लगे, वह कर ।” इस तरह भगवान् ने बड़ी उदारतासे अर्जुनको स्वतंत्रता दे दी । भगवद्गीताकी यही विशेषता है । परन्तु भगवान् को फिर दया आ गयी । दिये हुए इच्छा-स्वातंत्र्यको उन्होंने फिर वापस ले लिया । कहा—“अर्जुन, तू अपनी इच्छा, अपनी साधना, सब-कुछ छोड़ दे और मेरी शरणमें आ जा ।” इस तरह अपनी शरणमें आनेकी प्रेरणा करके भगवान् ने दिया हुआ इच्छा-स्वातंत्र्य वापस ले लिया है । इसका अर्थ यही है कि “तुम अपने मनमें कोई स्वतंत्र इच्छा ही न उठने दो । अपनी इच्छा नहीं, उसीकी इच्छा चलने दो ।” मुझे स्वतंत्र रूपसे यही अनुभव हो कि यह स्वतन्त्रता मुझे नहीं चाहिए । मैं नहीं, सब-कुछ तू ही है, ऐसा हो । वह बकरी जीवित दशामें—“में में में...” करती है यानी “मैं मैं मैं” कहती है, लेकिन मरनेपर उसकी ताँत बनाकर पींजनमें लगायी जाती है, तब दाढ़ कहता है—‘तुही, तुही, तुही’ तू ही, तू ही, तू ही, ऐसा वह कहती है । अब तो सब “तू ही, तू ही, तू ही !”

रविवार, १९-६-३२

साम्यसूत्र-वृत्तिः

['गीता-प्रवचन' ग्रंथके १०८ अधिकरण और ४३२ परिच्छेद हैं । अधिकरणोंपर अनुलक्षित १०८ साम्यसूत्र हैं । चिन्तन-सौलभ्यकी दृष्टिसे अधिकरणोंके अन्तर्गत परिच्छेदोंपर आधृत ४३२ सूत्रोंकी रचना की है । पाठकोंकी सुविधाके लिए विवेचनमें परिच्छेदोंके भी आँकड़े दिये हैं ।]

अध्याय १

(१) अभिधेयं परम-साम्यम्-५

- १ अथ गीतानुशासनम्
- २ दीपस्तम्भवत्
- ३ रामायण-भारतयोर् वैशिष्ट्यम्
- ४ व्यासमुनेर् मननसारः
- ५ कृष्णत्रयी

(२) संबंधेन-५

- ६ अर्जुनस्य भूमिका
- ७ वीरवृत्तिः
- ८ अहिंसकवत् भाषते अथ

९ मोहांध-न्यायाधीशवत्

१० प्रज्ञावादः

(३) प्रयोजनवत्त्वात्-५

- ११ अर्जुनस्य संन्यासो न स्वधर्मः
- १२ परधर्मः श्रेष्ठ इति न ग्राह्यः
- १३ सुकर इति न स्वीकार्यः
- १४ भगवान् भक्त-सापेक्षः
- १५ मोहमोचनमेव प्रयोजनम्

(४) ऋजुबुद्धेस्तु-१

१६ ऋजुबुद्धिरर्जुनः

अध्याय २

(५) छंदसि बहुलम्-३

- १ अर्जुनं निमित्तीकृत्य
- २ नित्यनूतन-परिभाषा
- ३ 'द'कारार्थवत्

(६) बेहेन स्वधर्मः-२

- ४ स्वधर्मः सहजः सुकरः
- ५ देहबुद्ध्या तु दुष्करो भवति

(७) मुक्तात्मा-७

- ६ तत्त्वज्ञानं प्रथममावश्यकम्
- ७ नाहं देहः
- ८ देहो वस्त्रवत्
- ९ मरणशब्दमपि न सहते पामरः
- १० आत्म-विस्तारः कर्तव्यः
- ११ आत्मा मोचनोत्सुकः
- १२ सारांशत्रयी

(८) युक्त्या समन्वयः-३

१३ फलाशा त्यक्तव्या

१४ समत्वं कुशलो गुणः

१५ कर्मण्येवानन्दनिर्झरः

(९) भक्त-जनेषु-४

१६ तुकारामस्य दृष्टान्तः

१७ पुण्डलीकस्य च

१८ 'अपि' सिद्धान्तः

१९ साधनैकपरता

(१०) ततः प्रज्ञालाभः-५

२० स्थितप्रज्ञलक्षणानि

२१ नित्यं पठितव्यानि

२२ संयममूर्तिः

२३ मत्परः

२४ जीवनशास्त्रं संपूर्णम्

अध्याय ३

(११) कर्मयोगोऽनंतफलः-७

१ अकामिनं कांक्षते लक्ष्मीः

२ अहो भारभृतां त्यागः !

३ मंत्रितं कर्म

४ गुरुदक्षिणातुल्यम्

५ गंगास्नानादि-सदृशम्

६ भावनाभेदादंतरम्

७ विश्वेन सामरस्यम्

(१२) बहुविध-प्रेरणैः-३

८ स्व-पर-यात्रार्थम्

९ चित्तस्य शुद्धये

१० आदर्श-स्थापनाय च

(१३) जितांतरायस्य-२

११ प्रशादसेवनमातुर्षंगिकम्

१२ अंतरायजयः

अध्याय ४

(१४) विकर्मणा संधानम्-३

१ निष्कामता-सिद्धये चित्तं

शोधयेत्

२ अंतर्दर्थं विकर्म-योजना

३ निष्कामकर्मणि विशेषणं
वरीयः

(१५) ततः स्फोटः-६

४ मंत्रेण तन्त्रे शक्तिः

५ भावेन सेवा सार्वत्रा

६ विकर्मणा कर्मणि चैतन्यम्

७ रामेक्षणमिव

८ निरुपद्रवं भस्म

९ न भारो न श्रमः

(१६) सच्छरणस्य-३

१० विकर्मकला सत्संगेन

११ ज्ञानं निर्ग्रन्थम्

१२ अति-श्रुतस्य बुद्धिर् भ्रांता

अध्याय ५

(१७) कर्ममातृकमकर्म-६

- १ गृहे वने संसारः समानः
- २ राक्षसवत् यथेष्टाकारः
- ३ तज्जयाय विकर्मापेक्षा
- ४ कर्मणोप्युपकारः
- ५ गुहासीनस्य चित्तं क्षीणम्
- ६ अकर्मदर्शनमुभयसंयोगेन

(१८) द्विरूपं तु-५

- ७ अवलान्तमेकम्
- ८ स्वेनाज्ञातम्
- ९ अगणितम्
- १० प्रेरकमपरम्
- ११ सहजधर्मरूपम्

(१९) व्यक्तलिङ्गमेकम्-३

- १२ अकरणमपि कर्मप्रकारः
- १३ सुवर्णमंजूषान्यायेन
- १४ कर्मसातत्ये नैष्कर्म्यम्

(२०) अव्यक्तलिङ्गमपरम्-२

- १५ संन्यासो गूढशक्तिः
- १६ आसीनो दूरं ब्रजति

(२१) अनिर्वचनीयमुभयम्-३

- १७ उभयकथा रम्या
- १८ सद्भिः सदा सेव्या
- १९ उदात्ता काव्यमयी

(२२) बिंदु-देवतादिवत्-४

- २० दृष्टान्ता अपूर्णाः
- २१ अमूर्तस्य भावनं मूर्तौ
- २२ यथा भूमिति-शास्त्रे
- २३ यथा च मीमांसा-दर्शने

(२३) शुकजनकयोरेकः पंथाः-४

- २४ अेकैव गुरु-परंपरा
- २५ शुकस्य ज्ञाननिष्ठा
- २६ ज्ञानिनोऽस्तित्वमेव स्फूर्तिः
- २७ वेगचालितं यत्नं स्थिरं भासते

(२४) वैशेष्यं तु-५

- २८ सौकर्येण विशिष्यते कर्म-योगः
- २९ सगुणोपासनवत्
- ३० प्रयत्नावकाशात्
- ३१ अलिखित-पठनं तु संन्यासः
- ३२ केवलं निष्ठैव

अध्याय ६

(२५) आरोढुमिच्छेत्-३

- १ अथ विवरणारंभः
- २ गीता व्यवहार-शोधनाय
- ३ उच्चाकांक्षायामेव ध्यानादि-प्रयोजनम्

(२६) अेकाग्रतया-४

- ४ अेकाग्रता प्राथमिकी
- ५ रणांगणेऽपि
- ६ न ज्ञातं शल्यमुद्धृतम्
- ७ वृद्धोऽपि तरुणायते

(२७) साभीष्टा शुद्धिपूर्विका-५

- ८ अंतश्चक्रं निवर्तयेत्
- ९ क्षुद्र-विषयेषु ज्ञानशक्तिं क्षपयेत्
- १० शून्यमनेकं च वर्जयेत्
- ११ जीवनं शोधयेत्
- १२ परदोषं न पश्येत्

(२८) गणितं सहकारि-३

- १३ युक्तं जीवेत्
- १४ आवृत्तचक्षुः
- १५ नातिमात्रं तु भुंजीत

(२९) साम्येन मंगलम्-७

- १६ मंगलायतनं हरिः
- १७ विश्वं तद् भद्रं यद्वन्ति देवाः

१८ रामदासयोरु मतभेदः !

१९ सृष्टिर् मातृसमा

२० अतिष्ठन्तीनामनिवेशनानाम्

२१ हिमालयो हृदि स्थितः

२२ समुद्रादूर्मिर् मधुमानुदारत्

(३०) बालवत्-२

२३ बलवान् बालः

२४ श्रद्धामूर्तिः

(३१) श्रद्धयोपेतस्य-४

२५ धनर्णयोगेन परिपूर्णता

२६ रसतमास्वादाने नीरसमन्यत्

२७ योगसंस्कारो न नश्यति

२८ ज्ञानदेव-कथने विशदम्

अध्याय ७

(३२) मायिनो ग्रहणेन-४

- १ नूतनागारम्
- २ द्विविधा प्रकृतिः
- ३ परमात्मा ग्रहीतव्यः
- ४ प्रपत्ति-योगेन

(३३) भक्तिरसं लब्ध्वा-४

- ५ भक्तिर् वास्तविको रसः
- ६ अन्ये रसा आभासिकाः
- ७ आनंदाभासं निर्मिमीते
- निरानंदः
- ८ रामरसं को जानाति ?

(३४) काम्यंक्षम्यं हरिस्पर्शात्-४

- ९ अश्रुपूर्णो नामदेवः
- १० व्रतपरायणा महिलाः
- ११ युधिष्ठिरस्य कुक्कुरः
- १२ भाविको यात्रिकः

(३५) निष्कामाश्चतुर्विधाः-४

- १३ आर्तः साधकः
- १४ जिज्ञासुः शोधकः
- १५ हितार्थी सेवकः
- १६ ज्ञानी परिपूर्णः

अध्याय ८

(३६) शुभं शनैः संचिनुयात्-३

- १ संस्कारसंचयो जीवनम्

२ तच्छेषोऽल्पः

३ अंत्यस्मृतिर् बलीयसी

(३७) मृति-स्मृतिः शुद्धये-८

- ४ अंत्यस्मृत्यनुसारि पुनर्जन्म
- ५ अेकनाथेन सूचितम्
- ६ पास्कलस्य प्रतिभा
- ७ कालापसारिणो विद्यार्थिनः
- ८ सुक्राताय समर्पणम्
- ९ सर्वेषामनिवार्यम्
- १० अद्यप्रभृत्येव चितनीयम्
- ११ पितामह्याः स्मृतितंत्रम्

(३८) तद्भावभावितः-३

- १२ सदा सावधानेन भाव्यम्

१३ दैनिककर्तव्य-पूरतिः

१४ सत्-संस्कार-धारा

(३९) संनद्धश्च-३

१५ अखंडभगवत्स्मृतिः

१६ निरंतरं युद्ध-प्रसंगः

१७ निराशा नैव

(४०) आप्रायणात्-३

१८ प्रयाणसाधनारूपकम्

१९ रूपक-विवेचनम्

२० तच्चिन्तनं पुनः पुनः

अध्याय ९

(४१) प्रात्यक्षिकी-३

- १ प्रवचने जपभावना
- २ नवमाध्यायमहिमा
- ३ पारत्रिकं को जानाति ?

(४२) सुमुखं कर्तुम्-५

- ४ वेदसारामृतं गीता
- ५ वेदविचारो गहनः
- ६ अयं तु मुक्तमार्गः
- ७ न स्वलेन पतेदिह
- ८ हरिरेव जगत् जगदेव हरिः

(४३) अधिकार-सामान्यात्-३

- ९ पापयोनीनामप्यधिकारः
- १० व्यासस्य संमतम्
- ११ वध्निकोदाहरणमात्यंतिकम्

(४४) समर्पणेन योगः-५

- १२ सहानुभूति-रसायनम्

१३ अपात्रं पात्रीभवति भावनेन

१४ पात्रापात्रविवेकः सुबोधः

१५ कामक्रोधौ समर्पितौ

१६ इन्द्रियाणि साधनानि

(४५) क्रियाविशेषानपेक्षः-३

१७ यशोदावत् बालसंगोपनम्

१८ कृषकस्य वृषभसेवा

१९ पाकयज्ञो गृहलक्ष्म्याः

(४६) व्यापकत्वात्-९

२० पुरुषसूक्तेन स्नानम्

२१ वस्त्रेव भद्रा सुकृता

२२ पांथिको नारायणः

२३ वाल्मीकि-परिवर्तनम्

२४ वस्तुतो न कश्चित् दुष्टो नाम

२५ मातृकथिता कृष्णार्पणकथा

२६ विट्ठल-मिश्रितं स्वादु

- २७ मधुरेणोत्थापयेत्
 २८ गुरुशिष्यावन्योन्यदेवते
 (४७) अकुतोभयम्-२
 २९ पापं बिभेति हरिनाम्नः

- ३० बालोऽपि श्माशाने निर्भयः
 (४८) स्वल्पेनापि-२
 ३१ भावनाया मूल्यम्
 ३२ ईश्वरार्पितमुत्तमिव

अध्याय १०

- (४९) क्रमेण प्रतिपत्तिः-४
 १ अभितो ब्रह्मनिर्वाणम्
 २ ध्यान-प्रपत्ति-सातत्यम्
 ३ राजविद्या राजगुह्यम्
 ४ बुभुक्षमाणो रुद्ररूपः
 (५०) स्थूलात् सूक्ष्मं प्रपद्ये-२
 ५ स्थूल-सूक्ष्म-सरल-कठिन-क्रमेण
 ६ सरलं न रोचते कठिनं न पच्यते
 (५१) मानुषं साम्यम्-२
 ७ मातृपित्रादिषु सौम्यम्
 ८ बालकेषु च
 (५२) सृष्टौ रम्यम्-६
 ९ प्रदर्शनं पश्येम
 १० आविर्कर् भुवनं विश्वमुषाः
 ११ सूर्य आत्मा जगतस् तस्थुषश्च

- १२ भगवती भागीरथी दृश्यते
 १३ द्वाविमौ वातौ वातः
 १४ अग्निमोळे पुरोहितम्
 (५३) प्राणिषु चित्रम्-२
 १५ वाश्वा इव धेनवः स्यन्दमानाः
 १६ प्रामाणिकः स्वामिनिष्ठोऽश्वः
 १७ अक्रूरः कृतज्ञः सिंहः
 १८ व्याजिघ्रतीति व्याघ्रः
 १९ संतस्निधौ निर्वैरः सर्पः
 २० रामदूता वानराः
 २१ षड्जं रौति मयूरः
 २२ महिलानां कोकिलाव्रतम्
 २३ गोस्वामि-पूजितः काकः
 (५४) दुरात्मसु चित्त्यं तदेव-१
 २४ स्तेनानां पतये नमो नमः

अध्याय ११

- (५५) कृत्स्नं न कामयेत्-५
 १ किं नाम विश्वरूपम् ?
 २ अनन्तं ब्रह्माण्डम्
 ३ निरवधिः कालश्च
 ४ सखैतत् द्रष्टुमिच्छति

- ५ तस्मै दिव्यदृष्टिर् दत्ता
 (५६) अंशेऽपि समावेशात्-४
 ६ बिंदु-सिंधु-न्यायेन
 ७ मूर्तिपूजा-रहस्यम्
 ८ उपमारूपकादि-स्वारस्यम्
 ९ उपमान-विस्तारः

(५७) अनधिकृतत्वाच्च-४

- १० दिव्यदृष्टिरपि भीतः
- ११ कालविस्मरणं तारकम्
- १२ सामीप्ये नाधिकारः
- १३ चरण-सेवा पर्याप्ता

(५८) मत्कर्मादौ तात्पर्यम्-३

- १४ विश्वगीतं गेयम्
- १५ सव्यसाचि-कार्यम्
- १६ सर्वसारं सेव्यम्

अध्याय १२

(५९) ओकाग्रं च समग्रं च-२

- १ इदं तु धर्म्यामृतम्
- २ ध्यानादि-दर्शनान्तं विवृतम्

(६०) तुल्यं तु-५

- ३ इदानीं कः प्रियतर इति पृच्छा
- ४ मातृ-हृदयं किं वदेत् ?
- ५ तथैव स्थितिर्भूत् भगवतः
- ६ योगि-संन्यासि-सदृशम्
- ७ सौलभ्येन समाधानम्

(६१) सगुणं साधकं देहभूतः-५

- ८ मार्गः साधको बाधको
- दृष्टिसापेक्षः

- ९ सगुणं सेवामयं सुलभम्
- १० निर्गुणं चिन्तामयं कठिनम्
- ११ ज्ञानमक्षमं सूक्ष्म-शोधनाय
- १२ प्रायेण परोक्षं बौद्धिकं तत्

(६२) बाधकं तदप्यमर्यादम्-४

- १३ सगुणमपि सदोषममर्यादं चेत्
- १४ तत्त्वनिष्ठया व्यक्तिनिष्ठा
- सुरक्षिता
- १५ अेतदर्थं शरणत्रयी कल्पिता
- १६ अत्याचारः परिवर्जनीयः

(६३) बोध्यं रामनुजयोर्

दृष्टान्तेन-७

- १७ अन्योन्यशोभा
- १८ लक्ष्मण-भरतयोः
- १९ सख्युः सखा लक्ष्मणः
- २० ध्वजायै दंडवत्
- २१ रामकार्यदर्शी भरतः
- २२ महातपस्वी
- २३ पादुकाश्रयमपेक्षते

(६४) कृष्णसखयोश्च-४

- २४ भक्तिरनासक्तिरेकैव
- २५ उद्धवारजुनयोः
- २६ उद्धवो निर्गुणान्तः
- २७ अर्जुनः सगुणान्तः

(६५) आत्मप्रतीतेरभेदः-१

- २८ स्वानुभवकथनम्

(६६) अमृतं पर्युपास्यम्-४

- २९ स्यात् शिलामयार्चनं निर्गुणम्
- ३० स्यात् शिलामयार्चनं सगुणम्
- ३१ उभे परस्परपूरके
- ३२ लक्षणान्यभ्यस्यनीयानि

अध्याय १३

(६७) शरीरात् प्रवृहेत्-४

- १ व्यासः समाप्तो गीतायाम्
- २ आचारगुह्यि विचारेण
- ३ फलवासना प्रेरकशक्तिर् मन्यते
- ४ तन्निरसनाय देहात्मपृथक्-
करणम्

(६८) अन्यथा संस्कारासंभवः-५

- ५ देहपूजा व्यर्था
- ६ देहनिदापि व्यर्थैव
- ७ आत्माघारं शिक्षणशास्त्रम्
- ८ 'अहं' सर्वथा निर्मलः
- ९ साधित्वेन संस्कारः संभवेत्

(६९) विलुप्त-जीवितं च-४

- १० रक्ष्याणां भक्षणम्
- ११ भैषज्यातिरेकः
- १२ पिण्डपोषणवृत्तिः
- १३ कृत्रिम-वेषभूषा

(७०) महावाक्यमनुचितयेत्-३

- १४ तत्त्वमसि-सूत्रम्
- १५ तन्निदिध्यासेन देहस्वाम्यम्

अध्याय १४

(७५) प्रकृतिः शोध्या-३

- १ शृङ्खला भेदनीया
- २ विवेकवैराग्याभ्याम्
- ३ त्रिधातुका शोधनीया

(७६) श्रम-संजात-वारिणा-५

- ४ शरीरस्थो महारिपुः

१६ वस्त्रवत् धारयेत् जह्याच्च

(७१) ततः शासनमुचितः-३

- १७ 'अस्नामि'—राक्षसः
- १८ हुतात्म-परंपरा
- १९ अजरामरः सुक्रातः

(७२) आत्मशक्तेर् भानात्-२

- २० किमाश्वस्तो निद्राति ?
- २१ विश्वशक्तिमाश्वस्तः

(७३) आविः संनिहिततरम्-८

- २२ द्रष्टृ-भूमिका प्रथमा
- २३ नैतिकी द्वितीया
- २४ नैतिक्यामनुमन्ता
- २५ श्रान्ता तृतीया
- २६ श्रान्तस्य सख्याय भरता
- २७ भोक्तृ-भूमिका चतुर्थी
- २८ माहेश्वरी पंचमी
- २९ अवं परमात्मशक्तेराविष्कारः

(७४) विशत्या-३

- ३० ख्रिस्तबलिदानमंत्र मननीयम्
- ३१ सद्गुण-संवर्धनमेव ज्ञानम्
- ३२ ज्ञानदेवेनाविष्कृतम्

५ पादं प्रविष्टः कलिः

६ समाजश् छिन्नभिन्नः

७ रुण्डमुण्ड-वर्गभेदेन

८ श्रमनिष्ठा रामबाणः

(७७) यन्ति प्रमादमतन्द्राः-४

- ९ गाढनिद्रा सुदुर्लभा

१० चक्री न सुखं शेते

११ विस्मृतिर् व्याधिः

१२ प्रमादो मृत्युः

(७८) वेगस्य शमनं स्वधर्मेण-४

१३ तमः प्रतीपं रजः

१४ रजोलक्षणं वेगः

१५ सततं भ्रामयति

१६ रजोमारणं स्वधर्मेण

(७९) स्वाभाविकत्वात्-४

१७ स्वधर्मः स्वभावनियतः

१८ जन्म-जातः

१९ प्रवाह-प्रातः

२० चांचल्य-मोचनः

(८०) सत्त्वस्य सत्त्वेन-६

२१ सत्त्वं जयेत् सावधानः

२२ सातत्येन

२३ निरहंकारेण

२४ कारुण्यासक्ति-वर्जनेन

२५ कीर्ति-परिहारेण

२६ अंतिमफलत्यागेन

(८१) भक्त्यैव तु निस्तारः-२

२७ अखंड जागरस् तारणः

२८ हरिकृपा च

अध्याय १५

(८२) पुरुषकारात् भक्तिरभिन्ना-५

१ पूरणयोगः

२ वृक्षरूपकम्

३ त्रैगुण्य-रामायणम्

४ निस्त्रैगुण्ये कमलवत्

५ यत्नवीरं कामयन्ते वेदाः

(८५) सैव भक्तिरनहंकृता चेत्-२

१३ दैनंदिनी सेवा

१४ निरहंकृता भक्तिरूपा

(८६) ज्ञानं समरसम्-६

१५ जीवनं ज्ञानेन संस्कार्यम्

१६ उपकरण-पूजा

१७ जीव-शिव-सृष्टेरैक्यम्

१८ देवालय-दृष्टान्तः

१९ खंडशर्करासेवनवत्

२० समरसं रमणीयम्

(८३) तया स सुकरः-२

६ ज्ञानकर्मप्रेम्णस् त्रिपदी

७ प्रेम्णा तपः शीतलम्

(८४) त्रैतं सेवार्थम्-५

८ सेव्य-सेवक-साधन-त्रिपुटी

९ सेव्य-सेवकौ सनातनौ

१० साधनरूपा सृष्टिर् नित्यनूतनी

११ चंद्रकला सुमनमाला

१२ नवनव-प्रसवा

(८७) अत्र वेदार्थः परिसमाप्तः-४

२१ वेदः सृष्टौ प्रकाशते

२२ श्रमिकस्य कराग्रे च

२३ अहमेव वेद-फलितम्

२४ वेदविद्वयंगः

अध्याय १६

(८८) ओषा दिवो दुहिता-३

१ पुरुषोत्तमयोगोऽन्तिमः

२ पंचवादातीतो निर्विवादः

३ पूर्व-प्रभा दैवी संपत्

(८९) सदसती पस्पृधाते-४

४ अंतःसंग्रामो मूलम्

५ बहिर् दृश्यते प्रतिबिम्बम्

६ अभयादि-नम्रतान्ता दैवी

७ दंभाद्यज्ञानान्ताऽऽसुरी

(९०) चतुष्पश्वाण्युत्तरोत्तरम्-५

८ अहिंसाविकासपश्वाणि

९ परशुरामस्य प्रथमम्

१० विश्वामित्रादीनां द्वितीयम्

११ महतां सतां तृतीयम्

१२ अस्माकं चतुर्थम्

(९१) अपूर्वं मानवस्य-२

१३ पशवादीनामभयदानम्

१४ भारतीयप्रयोगविशेषः

(९२) स्वाम्यादि परिहरेत्-६

१५ त्रिविध-महत्त्वाकांक्षा

१६ संस्कृतिर् धार्मिकी मे

१७ संस्कृतिर् वांशिकी मे

१८ धनं मे

१९ प्रभुत्वं मे

२० 'मे'-मुक्तं भावि-युगम्

(९३) शास्त्रीय संयमेन-४

२१ विस्तीर्णो नरकपंथाः

२२ वंशवृद्धि-चितां मा कुरु

२३ संयम-चितां कुरु

२४ तीरानंदो भव

अध्याय १७

(९४) संयतेन स्वैरम्-३

१ कार्यक्रमयोगः

२ तेनैव निश्चितता

३ संस्थात्रयाधारितं जन्म

(९५) तदर्थं त्रिविधिः-६

४ क्षतिपूरणो यज्ञः

५ ऋणमोचनं दानम्

६ दोषशोधनं तपः

७ अतैः संस्थात्रये साम्यं स्थापयेत्

८ आहारसेवनं तदर्थीयम्

९ मूलभूता श्रद्धा

(९६) सात्त्विकं संपादयेत्-५

१० सात्त्विकमेव समर्पणीयम्

११ सेवा-साधना-सामरस्यम्

१२ कामनामुक्तं साफल्ययुक्तं च

१३ सौंदर्यं प्रतिबिम्बम्

१४ मंत्रेण पुष्टिः

(९७) आहारशुद्धौ-४

१५ मिताहारस्य महत्त्वम्

१६ निरामिषं पूर्वज-पुण्यम्

१७ मत्स्याशनत्यागः प्रयोगविषयः

१८ पूर्वज-पुण्यं न हापयेत्

(९८) सर्वेषामविरोधेन-४

१९ अविरोधि-जीवनयोजना

२० द्वौ चैतन्यवादी

२१ विरोधः काल्पनिकः

२२ देहांगवद्वैतम्

(९९) नाम्ना साद्गुण्यम्-४

२३ नामामृतं सेवनीयम्

२४ गुण-भाव्यानि नामानि

२५ ओतत्सदित्यस्य विवरणम्

२६ ब्रह्मार्पणमस्तु

(१००) तद्धि पापापहारि-२

२७ पापापहारि हरिनाम

२८ सदसतोः समानाधिकारः

अध्याय १८

(१०१) अथातस्त्यागमीमासा-२

१ अंतिमं प्रवचनम्

२ अर्जुनस्यांतिमः प्रश्नः

(१०२) निकषः सार्वभौमः-४

३ फलत्यागो निकषः

४ काम्य-निषिद्धानि वर्जनीयानि

५ कर्ममात्रं सदोषम्

६ कर्मसंकोचो निरर्थकः

(१०३) क्रियोपरमे वीर्य-

वत्तरम्-६

७ सेंद्राय तक्षकायेति न कुर्यात्

८ गोरक्ष-दृष्टान्तेन बोद्धव्यम्

९ देहदहनाय प्रवृत्तो मूर्खः

१० अमंगलमिति न वक्तव्यम्

११ क्रियाकर्मणोर् भेदः

१२ दाम्भिक-पोषवत् साधकस्य

(१०४) अनेन स्वधर्मो विवृतः-४

१३ ओघप्राप्तं सदोषमपि न त्यजेत्

१४ अप्राप्तं गुणवदपि न ग्राह्यम्

१५ प्रतिव्यक्ति भिन्नं स्वत्वम्

१६ स्वधर्मः स्थिरः परिवर्त-

नीयश्च

(१०५) अष्टकं भावयेत्-२

१७ त्यागाष्टकम्

१८ प्रकृतिः प्रवाहिनी

(१०६) काष्ठैव निष्ठा-४

१९ फलत्यागश्चिन्तामणिः

२० मोक्षस्य नाकांक्षा

२१ भक्ति-साधना पर्यासा

२२ मार्गे नैव विश्रमः

(१०७) तुरीयं त्रिकोणम्-९

२३ अंतिमावस्था परमोदात्ता

रमणीया

२४ अतिनैतिकी

२५ अवर्णनीया

२६ भावावस्था वामदेववत्

२७ 'च मे च मे'

२८ नरसिंह-कथनम्

२९ क्रियावस्था सात्त्विकी

३० ज्ञानावस्था त्रिभुवन-दहनी

३१ शिवोऽहं नेदं शवः

(१०८) अहंमुक्तिः शब्दात्

अहंमुक्तिः शब्दात्-१

३२ त्वमेव त्वमेव त्वमेव !

